सिद्धयोग

सम्पादक:
योगयोगेश्वर अन्तर्यामी चन्द्रमोहन जी महाराज

एक प्रति : रु. 20
द्विवार्षिक : रु. 320

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन सवाँई 283202 (आगरा) उ.प्र.

वर्ष : 48, अंक
अगस्त – 20

अमृत कण

अनागतविधाता च प्रत्युपन्नमतिस्तथा।
द्वावेतौ सुखमेधंते यद्‌भविष्यो विनश्यति।।

– चाणक्य सूत्र

वह महान है, जो संकट की पूर्वकल्पना से ही अपने बचाव के सभी उपाय कर लेता है और जिसे विपत्तियों या दुःख के आगमन पर आत्मरक्षा का उपाय सूझ जाता है, ऐसा व्यक्ति दोनों ही दृष्टि से अपने सुख की वृद्धि करता है। किन्तु जो व्यक्ति भाग्य के वश में होकर चलता है या यह मानता है कि जो भाग्य में लिखा है वही होगा, उसका विनाश अवश्यभावी है।

यथातथोपदेशेन कृतार्थः सत्वबुद्धिमान्।
आजीवमपि जिज्ञासुः परस्तत्र विमुह्यति।।

– अष्टावक्र गीता

सत्व बुद्धि वाला व्यक्ति जैसे–तैसे यानि थोड़े से उपदेश से भी कृतार्थ हो जाता है, जबकि असत्व बुद्धि वाला व्यक्ति आजीवन जिज्ञासा करके भी उसमें मोह को ही प्राप्त होता है।

पुराणमित्येव न साधुसर्व न चापि सर्व नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्याऽन्यतरद्‌भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।।

– कालीदास

कोई वस्तु प्राचीन होने से ही श्रेष्ठ नहीं होती और न कोई वस्तु नवीन (आधुनिक) होने से ही श्रेष्ठ होती है। विवेकयुक्त व्यक्ति ज्ञान से परीक्षा करके ही दोनों में से श्रेष्ठ को स्वीकार करते हैं, जबकि मूढ़ व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के विश्वास के अनुसार चलता है।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्।।

अग्नि से तपाये जाने पर जैसे धातु का मल जल जाता है, उसी प्रकार प्राणवायु के निग्रह से इन्द्रियों के सारे दोष दग्ध हो जाते हैं।

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिभाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणानाम् भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

अर्थ :— शुद्ध (निर्विकार) स्वभाव वाले परम ब्रह्म का ध्यान करते-करते मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। उस मुक्ति की प्राप्ति के उपाय स्वरूप योग ध्यान शास्त्र के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करने वाली "सिद्धयोग" नामक पत्रिका सत्पुरुषों के परम कल्याण की सिद्धि (प्राप्ति) में सक्षम व सहायक हो।

वर्ष : 48 अगस्त 2015 अंक : 5

वाञ्छा सज्जन संगमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद् भयम्
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले
एते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः।

अर्थात्

साधु संगति में जिनकी इच्छा बनी रहती है। परगुणों में प्रीति बनी रहती है। गुरु चरणों में नम्रता बनी रहती है। विद्या अर्जन ही जिनका व्यसन है। अपनी धर्मपत्नी में ही जिनकी रति रहती है लोकापवाद से जिनको भय रहता है भगवान शंकर में भक्ति बनी हुई है आत्मनिग्रह में शक्ति बनी हुई है। जो दुर्जनों के संग से मुक्त रहते हैं। जिनमें ये गुण निवास करते हैं — उन मानवों को हमारा नमस्कार है।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG

HINDI MONTHLY

Propagating Yoga & Spiritual values

संस्थापक :

योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :

आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक
डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई–बहिन

अनुक्रमणिका

1.	विशेष लेख – *योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज*	3
2.	सम्पादकीय	10
3.	श्री मद्भागवत में योग परिचर्चा– *डॉ. विजय सिंह*	13
4.	गीता का स्वाध्याय मानव के लिए हितकारी है – श्री दिनेश शर्मा	16
5.	नाभि – चालन	18
6.	योग वाशिष्ठ से साभार	20
7.	आध्यात्मिक प्रगति के तीन मार्ग – प्रो. ऋषिराम शर्मा	22
8.	योग – आसन	33
9.	प्रभु–भक्ति का वैदिक स्वरूप – श्री राम शर्मा आचार्य	34
10.	आश्रम समाचार	38
11.	गुरुदेव हैं कौन ? – डॉ. अमित कुमार मिश्रा	39
12.	कविता – राजीव कुमार	40

एक प्रति	: रु. 20.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 170.00
द्विवार्षिक	: रु. 320.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु.1000.00

• विशेष लेख

ईश्वर प्रणिधान एवं समाधि-सिद्धि

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

योगदर्शन के विभूतिपाद में समाधि प्राप्ति के अनेक उपायों का वर्णन किया गया है उनमें से समाधि प्राप्ति के लिए भगवान पतंजलिदेव ने दो प्रकार के विशेष अधिकारियों का संकेत किया है। प्रथम अधिकारी इस प्रकार के हुआ करते हैं जिनको जन्म से ही ध्यान योग की प्रतीति हो जाया करती है। ये येगी इस प्रकार के होते हैं कि इनमें जन्म-जन्मान्तर के संस्कार प्रबल रहते हैं। इन्हें केवल निमित्त प्राप्त होते ही योगस्थिति प्रगट हो जाया करती है। ऐसे योगियों को भगवान पतंजलिदेव ने विदेह और प्रकृतिलीन नामों से अभिव्यक्त किया है।

सूत्र इस प्रकार है :- **भव प्रत्ययो विदेह प्रकृतिलयानाम्।** इसका अर्थ है कि विदेह एवं प्रकृतिलीन योगियों को जन्म से योग की प्रतीति हुआ करती है। इस पर भाष्य लिखते हुए श्री व्यास देव जी कहते हैं-

विदेहानां देवानां भव प्रत्ययः। ते हि स्वसंस्कार मात्रोपगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कार विपाकं तथा जातीयकमतिवाह्यन्ति। तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति, यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकार वशाच्चित्तम् इति।

अर्थात् सूक्ष्म और स्थूल शरीर के भावों का अतिक्रमण करने वाले देव विदेह कहलाते हैं। यद्यपि ये लोग वैराग्य संयुक्त हैं किन्तु फिर भी "स्वसंस्कार मात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः", स्वसंस्कार की सहायता से चित्त के द्वारा वे अपने आपको केवलीभाव में स्थिति समझते हैं। फिर भी "जातीयकंस्वसंस्कार विपाकं अतिवाह्यन्ति" इस प्रकार के अपने संस्कार विपाक का उपभोग करते हैं।

इसलिए इस प्रकार के जो देव लीन हैं उनको जन्म धारण करने मात्र से ही योग की प्रतीति हो जाया करती है और जिन योगियों का चित्त प्रकृति में लीन होने के साधिकार है वे अवधि पर्यन्त अपने आपको कैवल्य स्थिति में अनुभव करते हैं। "यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकारवशाच्चित्तम्।" जब तक उनका चित्त अधिकार वश होने के कारण लौट नहीं आता तभी तक वह मोक्षसुख रहता है। क्योंकि प्राकृत पदार्थों का अधिकार उसके चित्त से निवृत्त नहीं हुआ है। प्रायः यही भाव सभी भाष्यकारों के हैं। ऐसे योगियों का पुनः पुनरावर्तन संसार में होता रहा करता है जब तक वे अपने आपको शुद्ध पद में विलय नहीं कर लेते। फिर भी उनको हानि कुछ नहीं। क्योंकि ये लोग मनुष्य लोक में जन्म लेते हैं। जन्म लेते ही उनका

पूर्व–जन्मापेक्षित अभ्यास क्रमशः आरम्भ हो जाया करता है।

श्रीमद्भगवदगीता के छठे अध्याय में जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने समत्वयोग का उपदेश दिया है और उसे अर्जुन ने सब प्रकार से स्वीकार किया, किन्तु फिर भी अर्जुन के मन में थोड़ी सी भ्रान्ति हो गई और उस भ्रान्ति के कारण श्रीकृष्ण जी से इस प्रकार का प्रश्न कर ही लिया।

हे श्री कृष्ण! जो श्रद्धा से युक्त है फिर भी जिनका मन योग से विचलित हो गया है वे लोग योग–संसिद्धि को न पाकर किस गति को प्राप्त होते हैं। कहीं उभय तो भ्रष्ट होकर ब्रह्ममार्ग में विमूढ़ हुए बीच में ही तो नष्ट नहीं हो जाते? इसलिए हे कृष्ण! तुम मेरे इस संशय का नाश करो। तुम से बढ़कर इस संशय का छेत्ता मुझे इस संसार में और कोई दिखलाई नहीं देता। जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने निम्नांकित श्लोकों में अर्जुन के इस प्रश्न का यथावत् उत्तर दिया:–

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।।
प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।।

हे अर्जुन ऐसे व्यक्ति का यहाँ और परलोक में कहीं भी नाश नहीं होता। कल्याण मार्ग पर चलने वाला कोई भी व्यक्ति दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। वह पहले पुण्यवान् लोकों को प्राप्त करके और लम्बे समय तक वहाँ रहकर के पुनः मनुष्य लोक में आकर पवित्र श्रीमानों धनवानों के यहाँ जन्म लेता है या योगियों के घर ही उसका जन्म हो जाया करता है। इस प्रकार का जन्म प्राप्त करना इस मनुष्य लोक में अति दुर्लभ है और फिर वहाँ जन्म लेकर के उस साधक को पौर्व–देहिक बुद्धि संयोग पुनः प्राप्त हो जाया करता है। उस बुद्धि संयोग को पा करके वह योगी विवश होकर पुनः पुनः योग संसिद्धि के लिए प्रयत्न करता है। उस योगी का वह प्रयत्न भी उत्कृष्टोत्कृष्ट ही है। क्योंकि–योग मार्ग का जिज्ञासु भी कर्मकाण्ड के दायरे से कहीं बहुत आगे निकल जाता है। इस प्रकार का प्रयत्न करने वाला योगी संशुद्ध–किल्विष हो करके प्रयत्न करते हुए अनेक–अनेक जन्मों के पुरुषार्थ से परमगति को पा ही जाता है। यह बात भव–प्रत्यय वाले योगियों की हुई।

द्वितीय श्रेणी के वे योगी हैं जिनको उपाय प्रत्यय से योगी की प्रवृत्ति हुआ करती है। उनके लिए भगवान पतंजलिदेव ने हृदय में उत्पन्न होने वाले कुछ आवश्यक साधनों का संकेत किया है, वे इस प्रकार हैं:–

श्रद्धा–वीर्य–स्मृति–समाधि–प्रज्ञापूर्वक मितरेषाम्।।

अर्थात्–इतरेषाम् उपाय प्रत्ययशीलानां श्रद्धादयः साधनभूताः भवन्ति। उपाय प्रत्यय वाले योगियों के लिए श्रद्धादिक ही प्रमुख साधन बतलाये गये हैं। इस सूत्र पर भगवान व्यासदेव का भाष्य इस प्रकार है–

उपाय प्रत्ययो योगिनां भवति। श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति। तस्यहि श्रद्धाधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते। समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरूपतिष्ठते, स्मृत्युपस्थने च चित्तमनाकुलं समाधीयते। समाहितचित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावत्तते, येन यथावद्वस्तु जानाति। तदभ्यासात् तद्विषयाच्च वैराग्यादसंप्रज्ञात: समाधिर्भवति।

अर्थात् अभ्यास करने वाले योगियों को उपाय प्रत्यय के द्वारा ही अपने अभ्यास की चरमस्थिति प्राप्त होती है। ऐसे अभ्यासियों के लिए सबसे पहला साधन श्रद्धा है। श्रद्धा के विषय में श्री व्यासदेव जी लिखते हैं – **'श्रद्धा चेतस: सम्प्रसाद:'** अर्थात् चित्त की अवस्था का नाम ही श्रद्धा है। **'सा हि कल्याणि जननीव योगिनं पाति'** श्रद्धा माता की तरह योगी की रक्षा करती है और ज्योंही योगी के हृदय में श्रद्धा पैदा हो जाती है त्यों ही **'तस्य विवेकाथिनि:, श्रद्धाधानस्य वीर्य्यमुपजायते'** विवेक ज्ञान को प्राप्त करने की इच्छा वाले उस श्रद्धावान् योगी को वीर्य पैदा हो जाता है। वीर्य ही योगी का बल है और वीर्य पैदा हो जाने के बाद स्मृति उत्तिष्ठित हो जाती है और स्मृति उत्तिष्ठित हो जाने के बाद चित्त निर्विघ्न समाहित हो जाता है।

'समाहितचित्तस्य च प्रज्ञाविवेकः उपावर्तते येन यथावद्वस्तु जानाति।'' समाहितचित्त योगी को अपने आप ही प्रज्ञाविवेक प्राप्त हो जाता है। जिसके प्राप्त होने पर योगी वस्तुत: यथार्थ को जानता रहता है। यह बात योगियों के उपाय प्रत्यय की है। उपाय प्रत्यय भी हर व्यक्ति को समानरूप से फलीभूत नहीं हुआ करता। उनमें भी मृदु मध्यादि उपाय वाले योगियों में ''तीव्र संवेगानामासन्न–समाधिलाभ: फलं च भवति।'' मृदु, मध्य एवं अधि उपाय वाले योगी जब अपनी प्रगाढ़ लगन के साथ अभ्यास में लगते हैं उनमें से भी जो अधिमात्र उपाय वाले एवं तीव्र संवेग वाले होते हैं उनको शीघ्रातिशीघ्र समाधि फल की प्राप्ति हुआ करती है। इस प्रकार भगवान पतंजलिदेव ने समाधि प्राप्ति के उपायों का वर्णन किया है। इसके बाद वहीं पर तत्काल किसी ने प्रश्न कर दिया–

किमेतस्मादेवासन्नतम: समाधिर्भवत्यथास्यलाभे भवत्यथोऽपि कश्चिदुपायो न वेति।

अर्थात् क्या इससे भी जल्दी किसी प्रकार समाधि हो सकती है और उसे प्राप्त करने का क्या और कोई सरलतम उपाय है?

प्रत्युत्तर रूप में भगवान पतंजलिदेव जी लिखते हैं–

ईश्वर प्रणिधानाद्वा।

प्रणिधानादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृहणात्यभिध्यानमात्रेण

तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः फलं च।

इस सूत्र पर व्यास भाष्य की पंक्तियां इस प्रकार हैं:–

तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः
समाधिलाभः फलं च भवति।

ईश्वर के ईक्षण मात्र से भी मनुष्य को जल्दी से जल्दी समाधिलाभ हो जाता है। ईश्वर प्रणिधान से किसी प्रकार से समाधि लाभ हो जाता है यह बताने से पहले मैं ईश्वर का लक्षण एवं तद्बोधक नाम प्रणव का यहाँ वर्णन कर देना बहुत ही आवश्यक समझता हूँ। ताकि आगे प्रणिधान का स्वरुप भी भली प्रकार समझ में आ जाय।

अभी तक योगदर्शन में भगवान् पतंजलिदेव ने श्रद्धा, वीर्य, समाधि आदि–आदि अन्यान्य उपायों को समाधि का उपाय बतलाया। किन्तु जब जिज्ञासु ने पूछा–

क्या इससे भी सरलतम समाधि लाभ का उपाय है? तब श्री पतंजलि देव ने – ''ईश्वर प्रणिधानाद्वा'' कह करके ईश्वर प्रणिधान को ही समाधि प्राप्ति का सरलतम एवं सुसाध्य उपाय बतलाया। अभी तक योगदर्शन में प्रकृति–पुरुष विवेक को ही प्रधानता दी गई थी। किन्तु अब अकस्मात् – ईश्वर प्रणिधानाद्वा कह करके ईश्वर का वर्णन किया। इसको सुन करके श्रोता जिज्ञासु आश्चर्य–चकित सा हो गया और उसने साहस पूर्वक कह दिया–

प्रधान पुरुष व्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति

अर्थात् प्रकृति–पुरुष से अलहदा ईश्वर नाम की यह क्या वस्तु है, इसके उत्तर में भगवान् पतंजलिदेव ने–

क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेषः ईश्वरः।

अर्थात् क्लेश कर्म विपाकादिकों से रहित जो सदा सर्वदा अपरामृष्ट है उसी पुरुष विशेष का नाम ईश्वर है।

अर्थात् अविद्यादि क्लेश एवं अच्छे–बुरे कर्म एवं उनका फल–विपाक तदनुगुणा वासना ये सब के सब मन में रहते हुए पुरुष में कहे जाते हैं और उसी को उनके फलों का भोक्ता मानते हैं। जैसे जय और पराजय तो योधाओं में हुआ करती है। किन्तु उनके मालिकों की मानी जाया करती है। इसी प्रकार कर्मफल का भोक्ता पुरुष को माना जाता है। वस्तुतः वह सभी प्रकार के भोगों से अपरामृष्ट होता है। जो सदा सर्वदा सभी प्रकार के भोगों से अपरामृष्ट होता है उसी पुरुष विशेष का नाम ईश्वर है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।

उस ईश्वर में सर्वज्ञ बीज की पराकाष्ठा है अर्थात् उस ईश्वर से बढ़कर के सर्वज्ञ न अब तक कोई हुआ है न आगे होगा। ईश्वर सबसे बढ़कर सर्वज्ञ है और वह ईश्वर –

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

अर्थात् वह ईश्वर सृष्टि के शुरू में होने वाले हिरण्य गर्भादिकों का भी गुरु है। क्योंकि वह काल की हद से परे है। उसका प्रभाव अचिन्त्य है। जिसकी सीमा का उल्लंघन करके अवच्छेदनार्थ काल उपस्थित नहीं होता उसी सत्ता का नाम गुरु है। उसी के लिए भगवान पतंजलिदेव ने ''**पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्**'' कह करके उस परम गुरु की परिभाषा लिख दी। इस सूत्र पर श्री व्यासदेव जी कहते हैं :–

ईश्वर अनादिकाल से सिद्ध है। इसलिए काल की सीमा से परे रहकर वे पूर्व गुरु जो काल के अवच्छेदन में आ चुके हैं उन सबका गुरु है। श्री पतंजलिदेव ने ईश्वर की परिभाषा समझाने के लिए इतने सूत्रों में उसके यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन किया।

अब हम उस ईश्वर को आत्मनिवेदन किस प्रकार से करें जिससे वह हमारे अभिमुख हो सके और हम सब उसके यथार्थ स्वरूप को जानकर अपने अभीष्ट पदार्थ समाधि को प्राप्त कर सकें। नाम और नामी का अभिन्न सम्बन्ध रहा करता है और उसके लिए ईश्वर प्राप्ति का साधन भूत उसका वर्णन करते हुए भगवान पतंजलिदेव ने उसके बोधक नाम का संकेत किया–

तस्य वाचकः प्रणवः।।

उस ईश्वर का बोधक नाम प्रणव है। प्रणव क्या है इसका, बहुत विस्तृत वर्णन हमारे शास्त्रों में मिलता है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव सभी की सत्ता प्रणव में विलीन हो जाती है।

प्रणवात्प्रभवो रुद्रः प्रणवात्प्रभवो हरिः।

प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा प्रणव एवावशिष्यते।।

ब्रह्मा, विष्णु, शिव तीनों की उत्पत्ति प्रणव से ही है और इनके बाद में प्रणव ही शेष रह जाता है। ओंकार एक इस प्रकार की सत्ता है जो काल की सीमा का अतिक्रमण करके अखिल अंड ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। इसलिए प्रणव का जप करते हुए उस परम तत्त्व का ध्यान करते हुए ही हम ईश्वर का अभिमुखीकरण कर सकते हैं।

अतः भगवान पतंजलिदेव ने आदेश दिया है :–

तज्जपस्तदर्थ भावनम्।।

अर्थात् अर्थ–भावना सहित प्रणव का जप करना चाहिए। तभी उसका परिणाम सामने आयेगा। इसलिए हमारे शास्त्रों का आदेश है –

स्वाध्यायाद्योगमासीत, योगात्स्वाध्यामामनेत्।

स्वाध्याययोगसम्पत्या, परमात्मा प्रकाशते।।

स्वाध्याय से योग को प्राप्त हो और योग से स्वाध्याय का मनन करे, स्वाध्याय और योग दोनों की शक्ति से परमात्मा का प्रकाश मिल जाता है। प्रणव के जप का आदेश देते हुए भगवान पतंजलि देव ने ''तज्जपस्तदर्थ भावनम्'' कह करके प्रणव जप के साथ–साथ प्रणवाविधेय ईश्वर के ध्यान करने की भी विशेष रूप से आज्ञा प्रदान की है। बात जैसी की तैसी सार्थक है।

ऊपर के श्लोक में स्वाध्याय और योग की सम्पत्ति से परमात्मा का प्रकाशित होना वर्णित है।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
य: प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमाँ गातिम्।।

अर्थात् 'ओम्' इस एक अक्षर का उच्चारण करता हुआ मेरा ध्यान करता हुआ जो शरीर छोड़ता है वह परम गति को प्राप्त हो जाता है। इन सभी प्रमाणों से यह सिद्ध हुआ कि प्रणव का जप करने से एवं प्रणवाविधेय का ध्यान करने से ही मनुष्य परम गति को प्राप्त हो जाता है। इन सभी प्रमाणों से यह भी प्रमाणित होता है कि मनुष्य को स्वाध्याय और योग ही ईश्वर की ओर अभिमुख करने का मुख्य साधन है। जो मनुष्य अनवरत स्वाध्यायशील रहता है एवं ईश्वर के प्रमुख नाम प्रणव का जाप करता है वह अपने अभ्यास बल से अल्प समय में ही ईश्वर को अभिमुख कर लेता है और ईश्वराभिमुख होने के परिणाम स्वरूप समाधि को पा जाता है। तब उसके सब प्रकार के अन्तरायों की निवृत्ति एवं पापों का नाश हो जाया करता है। शास्त्रीय प्रवचन है कि –

योगाग्निर्दहति अशेषं पापपंजरम्।।

यही ध्यान योग का निर्मल तेज है जिससे सब प्रकार का पाप–पंजर नष्ट हो जाया करता है। ध्यानबिन्दूपनिषद् का वचन है कि –

शैले समं पापं विस्तीर्ण बहुयोजनम्।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेद: कदाचन।।

यदि पापों का पहाड़ का पहाड़ भी हो वह ध्यान योग के द्वारा नष्ट किया जा सकता है। उसको नष्ट करने का अन्य कोई सरल साधन नहीं है। रामायण में इस प्रकार के बहुत से प्रकरण मिलते हैं जिनमें भगवान श्रीराम ने अपने मुख से यह स्पष्ट कह दिया है कि – जीव के सम्मुख होते ही उसके करोड़ों जन्मों के पापों को तत्काल नष्ट कर दिया करते हैं। जैसे लंका काण्ड में जिस समय विभीषण श्रीराम की शरण में आया और उसके राक्षस होने पर शरण होने में कुछ शंकायें उपस्थित की गई वहां पर भगवान् श्रीराम ने विभीषण को अभयदान देते हुए स्पष्ट शब्दों में कह दिया।

कोटि प्रिय बध लागेहि जेही, आये शरण तजहुँ नहि तेही।।
सन्मुख होहि जीव मोहि जबहीं, कोटि जन्म अघ नाशहि तबहीं।।

अर्थात् ईश्वर के सन्मुख होते ही मनुष्य के अनन्त करोड़ों पापों का नष्ट हो जाना उसी प्रकार सम्भव है जिस प्रकार सूर्योदय हो जाने के बाद अन्धकार का नाश हो जाना स्वाभाविक हुआ करता है। वैसे तो जीव ईश्वर के सन्मुख हर समय रहता ही है किन्तु अभिमुखीकरण का सीधा और स्पष्ट अर्थ यही है कि वह ईश्वरीय तेज का स्पष्ट अनुभव कर ले और अनवरत करता ही चला जाये तो अवश्य ही वह जीव ईश्वरीय तेज को पाकर तन्मय हो जायेगा एवं सिन्धु

में बिन्दु कीतरह अपनी आत्म सत्ता को परमात्मा सत्ता में सदा सर्वदा के लिए विलीन कर देगा। समाधि शब्द का अर्थ भी ''समाधिः समतावस्था जीवात्मा परमात्मनः'' अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा की एकावस्था का नाम ही समाधि है। जब मनुष्य परम गुरु ईश्वर को सर्व कर्मार्पण करके अपने आपको न्यौछावर कर डालता है तभी ईश्वर का यह संकल्प होता है कि – ''इदमस्याभि–मतमस्तु'' यह स्वाभाविक ही है। इसी लिए भगवान पतंजलिदेव ने ईश्वर प्रणिधान को अन्य ''श्रद्धा–वीय–स्मृति–समाधि आदि साधनों की अपेक्षा सरलतम साधन माना है।इसीलिए –

समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्।

ईश्वर प्रणिधान को ही अदीनतापूर्वक सुलभ साधन बतलाया। ईश्वर प्रणिधान में साधक को किसी प्रकार का कष्ट नहीं उठाना पड़ता प्रत्युत प्रेमपूर्वक उसका अनन्य चिन्तन एवं सर्व कर्मार्पणता ही उसकी सफलता का सफल साधन बन जाती है। ईश्वर प्रेमी किसी से बात नहीं करना चाहता किसी से विवाद नहीं करना चाहता। उसकी वृत्ति रहती है –

सुनत न काहू की कही, कहत न अपनी बात।
नारायण वा रूप में, मगन रहत दिन रात।।

ऐसा साधक ही प्रणवाभिधेय को प्राप्त करके निहाल हो जाया करता है।

●●●

लोहे की तरह ठोस मांसपेशियाँ

''हमारे देश के लिए इस समय आवश्यकता है, लोहे की तरह ठोस मांसपेशियों और मजबूत स्नायु वाले शरीरों की। आवश्यकता है इस तरह के दृढ़ इच्छा–शक्ति सम्पन्न होने की कि कोई उसका प्रतिरोध करने में समर्थ न हो। आवश्यकता है ऐसी अदम्य इच्छा–शक्ति की, जो ब्रह्माण्ड के सारे रहस्यों को भेद सकती हो। यदि यह कार्य करने के लिए अथाह समुद्र के मार्ग में जाना पड़े, सदा सब तरह से मौत का सामना करना पड़े, तो भी हमें यह काम करना ही पड़ेगा। यही हमारे लिए परम आवश्यक है।''

श्री मद्वाल्मीकीय रामायण और योग

– योगाचार्य डॉ. दासलाल ब्रह्मचारी

(इस लेख को प्रकाशित करने का एक मुख्य लक्ष्य यह है कि वर्तमान हिन्दू समाज के सम्मुख मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम के अलौकिक चरित्र सामने रखा जाये। भगवान् श्री राम हिन्दु संस्कृति एवं सभ्यता की धुरी के समान हैं। उन्होंने अपने दिव्य चरित्र के द्वारा यह संदेश दिया है कि मनुष्य को धर्म एवं सत्य के मार्ग पर चलना चाहिये चाहे मार्ग में कितनी ही बाधायें व कठिनाईयाँ आयें। अपने पिता के दिये हुये वचन को सत्य करने के लिये वे सब कुछ त्याग करने को उद्यत हैं यहाँ तक कि प्राण का बलिदान करने को भी तत्पर हैं। वनवास जाने से पूर्व श्री राम अपने पिता दशरथ के पास अनुमति माँगने जाते हैं। महाराज दशरथ अपने प्रिय राम को एक क्षण के लिये भी अपनी आँखों से ओझल नहीं देखना चाहते हैं। वह श्री राम से यहाँ तक कह देते हैं। राम !" तुम मुझे बन्दी बना लो और राज्य की बागडोर अपने हाथों में ले लो।" श्री राम जैसे महान व्यक्ति के लिये यह कैसे सम्भव हो सकता था। श्री राम कहते हैं – पिता जी ! मैं आप के वचन को सत्य करने के लिये ही वन को जा रहा हूँ। आप मुझे एक रात्रि के लिये रुक जाने की बात कह रहे हैं किन्तु अब मैं एक क्षण के लिये भी रुकना नही चाहता हूँ, इसलिये आप मुझे जाने की आज्ञा दें।" महाराज दशरथ अत्यन्त बुझे मन से जाने की आज्ञा देते हैं। उन पर कैकेयी का बहुत दवाब बना हुआ है कि वे श्री राम को वनवास के लिये शीघ्र भेज दें। महाराज दशरथ श्री राम को निर्विघ्न यात्रा की मंगल कामना से अश्रुपुरित नेत्रों से विदा करते हैं। श्री राम का जीवन सत्य एवं त्याग का अद्वितीय उदाहरण बन गया। उन्होंने जो मर्यादा स्थापित कर दी है वे समाज के लिये प्रकाश स्तम्भ बन गया है। हर हिन्दू को राम के आदर्शों पर चलने का प्रयत्न करना चाहिये। श्री राम के चरित्र को देखकर ही – "रघुकुल रीति सदा चली आई प्राण जायें पर वचन न जायीं" की उक्ति प्रसिद्ध हो चुकी है।)

पढ़िये आगे इस अंक में। – (सम्पादक)

सुमन्त्र ने महाराज दशरथ के महल में जाकर देखा कि पृथ्वीपति महाराज दशरथ श्री हीन होकर श्री राम का चिन्तन कर रहे हैं। तब महाप्राज्ञ सुमन्त ने हाथ जोड़कर महाराज को सम्बोधित कर कहा – पृथ्वीनाथ ! आप के पुत्र सत्य पराक्रमी पुरुष सिहँ श्री राम ब्राह्मणों को तथा आश्रित सेवकों को अपना सारा धन देकर वनवास जाने के लिये द्वार पर खड़े हैं। वे अपने

सब सुहृदों से विदा लेकर इस समय आपके दर्शन के लिये द्वार पर खड़े हैं। आप की आज्ञा हो तो यहाँ आकर आपके दर्शन करें। महाराज ! अब वे विशाल वन को चले जायेंगे आप उन्हें अपनी आँखों से जी भर कर देख लीजिये। ये सुनकर समुद्र की भाँति गंभीर तथा आकाश की भाँति निर्मल सत्यवादी धर्मात्मा दशरथ ने उत्तर दिया – सुमन्त्र ! यहाँ जो कोई भी मेरी स्त्रियाँ हैं उन्हें सब को बुला लाओ। उन सब के साथ मैं श्री राम को देखना चाहता हूँ। तब सुमन्त्र ने शीघ्र ही जाकर सभी देवियों को महाराज दशरथ के पास आने को कहा – सभी कौशल्या सहित साढ़े तीन सौ रानियाँ महाराज दशरथ के पास पहुँच गई। उन सब के आ जाने के बाद महाराज दशरथ ने कहा – सुमन्त्र! अब तुम मेरे पुत्र को यहाँ बुला लाओ। आज्ञा पाकर सुमन्त्र गये और श्री राम, लक्ष्मण तथा देवी सीता को महाराज के पास ले आये। अपने पुत्र को दूर से ही हाथ जोड़ कर आते देखकर महाराज अपने आसन से उठे और बड़े वेग के साथ अपने पुत्र की ओर दौड़े किन्तु पास पहुँचने से पहले ही पृथ्वी पर गिर पड़े और मूर्च्छित हो गये। उस समय श्री राम और लक्ष्मण बड़े वेग से चलकर महाराज के पास पहुँचे और उन्हें उठा लिया। इतने में ही उस राज भवन में सारी स्त्रियाँ हा राम! हा राम! कहती हुई रोने लगी। श्री राम और लक्ष्मण ने महाराज दशरथ को बाहुओं से उठाकर पलंग पर बिठा दिया। शोक के सागर में डूबे हुये महाराज को दो घड़ी के बाद चेत हुआ तो श्री राम ने हाथ जोड़कर उनसे कहा – महाराज ! आप हम लोगों के स्वामी हैं। मैं दण्डकारण्य जा रहा हूँ, आप से आज्ञा लेने आया हूँ। आप अपनी कल्याणमयी दृष्टि से मेरी ओर देखिये। मेरे साथ लक्ष्मण तथा देवी सीता को भी वन में जाने की आज्ञा दीजिये। महाराज ने श्री राम से कहा –" रघुनन्दन ! मैं कैकयी को दिये हुये वर के कारण मोह में पड़ गया हूँ। तुम मुझे कैद करके स्वयं ही अब अयोध्या के राजा बन जाओ। " महाराज के ऐसा कहने पर बातचीत में कुशल धर्मात्मा श्री राम ने कहा – महाराज –

भवान् वर्ष सहस्राय पृथिव्या नृपते पतिः
अहं त्वरण्ये वत्स्यामि न मे राज्यस्य कांक्षिता

महाराज ! आप सहस्रों वर्षों तक जीवित रहकर इस पृथ्वी के अधिपति बने रहें। मैं तो अब वन में ही निवास करूँगा। मुझे राज्य लेने की बिल्कुल इच्छा नहीं है। " नरेश्वर ! मैं चौदह वर्षों तक वन में घूम फिर कर आप की प्रतिज्ञा पूरी कर लेने के पश्चात पुनः आपके युगल चरणों में मस्तक झुकाऊँगा "। सत्य के बन्धन में बँधे हुये तथा कैकेयी के मोह में पड़े हुये महाराज श्री राम से बोले ! तात्। तुम कल्याण की वृद्धि के लिये और फिर लौट आने के लिये शान्त भाव से जाओ। तुम्हारा मार्ग विघ्न बाधाओं से रहित तथा निर्भय हो। महाराज पुनः बोले – रघुनन्दन ! तुम सत्यस्वरूप तथा धर्मात्मा हो। तुम्हारे विचार को पलटना तो असंभव है परन्तु तुम रात भर और रह

जाओ एक दिन के लिये अपनी यात्रा रोक लो ताकि मैं तुम्हें जी भरकर देखने का सुख उठा सकूँ। प्रिय राम ! तुम सर्वथा दुष्कर कार्य कर रहे हो। मेरा प्रिय करने के लिये ही तुमने वन का आश्रय लिया है। बेटा राम ! मैं सत्य की शपथ खाकर कहता हूँ तुम्हारा वन में जाना मुझे बिल्कुल अच्छा नहीं लग रहा है। यह मेरी पत्नी कैकेयी राख में छिपी हुई आग के समान भयंकर है। इसने अपने क्रूर अभिप्राय को छिपा रखा था। इसी ने मुझे अभीष्ट संकल्प से विचलित कर दिया है। कुल के उचित सदाचार का विनाश करने वाली इस कैकेयी ने मुझे वरदान देने के लिये प्रेरित करके मेरे साथ बहुत बड़ा धोखा छल किया है। तुम अपने पिता को सत्यवादी बनाना चाहते हो यह तुम्हारे लिये कोई आश्चर्य की बात नहीं है। तुम गुण और अवस्था दोनों ही दृष्टियों से मेरे ज्येष्ठ पुत्र हो। पिता के शोकाकुल वचनों को सुनकर श्री राम ने लक्ष्मण के सामने दुःखी होकर कहा - महाराज! आज यात्रा करके मैं जिन गुणों (अनन्तलाभ) को पाऊँगा उन्हें कल मुझे कौन देगा ? अतः मैं आज ही जाना अच्छा समझता हूँ। राष्ट्र तथा यहाँ के निवासी और धन धान्य से सम्पन्न यह सारी पृथ्वी मैंने छोड़ दी है इसे आप भरत को दे दें। मेरा वनवास सम्बन्धी विचार बदल नहीं सकता। आपने पूर्व में जो कैकेयी को वर दिये थे उन्हें पूरा होने दीजिये और सत्यवादी बनिये। मैं आप की उक्त आज्ञा का पालन करता हुआ चौदह वर्षों तक वन में वनचारी प्राणियों के साथ निवास करूँगा। आप के मन में कोई अन्यथा विचार नहीं आना चाहिये। आप यह सारी पृथ्वी भरत को देदें। आप का दुःख दूर हो जाये। पिता जी आप इस तरह आँसू न बहायें। मैं न तो इस राज्य की, न सुख की, न पृथ्वी की, न इन सम्पूर्ण भोगों की, न स्वर्ग की और न जीवन की ही इच्छा करता हूँ।

नैवाहं राज्यमिच्छामि न सुखं न च मेदिनीम्।

नैव सर्वानिमान् कामान् न स्वर्गं न च जीवितुम्।।

पुरुष शिरोमणि ! मेरे मन में यदि कोई इच्छा है तो वह यह कि आप सत्य वादी बने रहें, आपका वचन मिथ्या न हो। यह बात मैं आप के सामने सत्य और शुभ कर्मों की शपथ खाकर कहता हूँ। तात्! अब मैं यहाँ एक क्षण भी ठहर नहीं सकता अतः आप शोक को भीतर ही भीतर दबा लें। मैं अपने निश्चय के विपरीत कुछ नहीं कर सकता हूँ।

(क्रमशः)

●●●

श्रीमद्भागवत में योग-परिचर्चा

— डॉ. विजय सिंह

छठे स्कन्ध के प्रथम अध्याय में अजामिल की कथा के माध्यम से प्रवृत्तिमार्गी गृहस्थ कैसे सद्गति को प्राप्त होता है इसका मर्म स्पर्शी वर्णन किया गया है। श्री शुकदेव जी ने कहा-- हे राजन ! मनुष्य मन, वाणी और शरीर से पाप करता है। यदि उन पापों का उसी जन्म में प्रायश्चित नहीं करता तो मरने के बाद उसे भयंकर नरकों की यातना सहनी पड़ती है। वस्तुतः प्रायश्चित द्वारा किये गये कर्म का निर्बीज नाश नहीं होता। अतः सच्चा प्रायश्चित तत्व ज्ञान ही है। इसलिये धर्मज्ञ और श्रद्धावान् धीर पुरुष तपस्या, ब्रह्मचर्य, इन्द्रियदमन, मनकी स्थिरता, दान, सत्य, शौच तथा यम नियमों का पालन कर मन, वाणी और शरीर से किये पापों को समूल नष्ट कर देते हैं। जिन्होंने अपने मन—मधुकर को भगवान श्री कृष्ण के चरणारविन्द—मकरन्द का एक बार पान करा दिया, उन्होंने सारे प्रायश्चित कर लिये। उन्हें स्वप्न में भी यमराज या उनके दूत नहीं दिखते फिर नरक की बात ही क्या है ? —

सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयो
निर्वेशितं तद्गुणरागि यैरिह।
न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान्
स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः ।।19।। स्कन्ध 6 अ. 1

उपर्युक्त सिद्धान्त को समझाने हेतु भगवान शुकदेव जी ने परिक्षित को विस्तार से अजामिल की कथा सुनाया।

तपस्वी ब्राह्मण अजामिल एक सदगृहस्थ है। एक बार वन से फल—फूल एकत्र कर लौटते समय एक डाकू द्वारा निर्जन में वैश्या के संग राग—रंग मौज—मस्ती करता देखकर, अजामिल के मन में काम—पिशाच प्रवेश कर गया। माता—पिता, धर्मपत्नि सबका परित्याग कर वह एक दासी संग मद्यपान आदि व्यसनों में लिप्त हो भ्रष्ट हो गया। उस दासी से इसने दस पुत्र पैदा किये। इस गृहस्थी हेतु डाका, चोरी सभी निन्द्य कर्म करता हुआ वृद्धावस्था को प्राप्त हुआ। उसने अपने सबसे छोटे दासी पुत्र का नाम 'नारायण' रक्खा था। उसमें उसकी प्रबल आसक्ति थी। मृत्यु के समय चार भयंकर यम दूतों को देख भयाक्रान्त हो अजामिल सहायता हेतु अपने प्रिय पुत्र " नारायण " को स्मरण करता हुआ उसे नारायण, नारायण कह कर पुकारा।

अकस्मात् उसी क्षण चार विपुल तेज धारी चतुर्भुज चार दिव्य पार्षद प्रकट होकर यमराज के दूतों को अजामिल के शरीर से उसके सूक्ष्म शरीर को निकालने से रोक दिया।

यमराज के दूतों ने श्री नारायण पार्षदों से कहा — अरे, धर्मराज की आज्ञा का निषेध करने वाले तुम लोग हो कौन ? इस पापात्मा को हम लेने आये हैं। यह बहुत दिनों तक वेश्या के मल—समान अपवित्र अन्न से अपना जीवन व्यतीत किया है। इसने अपने पापों का कोई प्रायश्चित भी नहीं किया है इसलिये अब हम इसे भगवान यमराज के पास ले जायँगे। वहाँ पापों का दण्ड भोगकर शुद्ध हो

जायेगा।

श्री नारायण के पार्षदों ने यमदूतों को फटकारा और कहा – अजामिल कोटि–कोटि जन्मों की पाप–राशि का पूरा–पूरा प्रायश्चित कर लिया है। यह विवशतावश ही सही अन्तकाल में भगवान के परम कल्याणमय नाम का उच्चारण किया है। जिस समय यह ' नारायण ' इन चार अक्षरों का उच्चारण किया, उसी समय इसके समस्त पापों का प्रायश्चित्त हो गया। कोई ज्ञान से अथवा अनजान से अग्नि का स्पर्श करे तो वह दाहकता को ही अनुभव करेगा।

अन्ततोगत्वा नारायण पार्षदों के तेज एवं तर्क से यमदूत परास्त हो गये। अजामिल यमदूतों के मृत्यु पाश से मुक्त हो जीवित हो गया। उसने भगवान के पार्षदों के दर्शन जनित आनन्द में मग्न होकर उन्हें सिर झुकाकर प्रणाम किया। अजामिल को घोर पश्चाताप हुआ। वह सोचने लगा अभी–अभी वे यमदूत मुझे फंदों में बाँधकर पृथ्वी के नीचे ले जा रहे थे, परन्तु चार अत्यन्त सुन्दर सिद्धों ने आकर मुझे छुड़ा दिया। वे अब कहाँ चले गये –

अथ ते क्व गताः सिद्धाश्चत्वारश्चारुदर्शनाः।

व्यमोचयन्नीयमानं बद्ध्वा पाशैरधो भुवः ।।31।। स्कं 6, अं.2

अपने पूर्व चरित्र की अधमता को स्मरण कर तथा भगवान 'नारायण' नाम की मंगलमयता को याद कर अजामिल का चित्त वैराग्य सम्पदा से भरपूर हो गया। उसने दृढ़ निश्चय किया कि अब मैं अपने–आपको माया से मुक्त करूँगा। अहा ! यह उन भगवान के पार्षद महात्माओं के सत्संग का ही फल था कि अजामिल ने सर्व सम्बन्ध और मोह को छोड़ हरिद्वार चला गया। वहाँ भगवान के मन्दिर में जाकर आसन से बैठ गया और योग मार्ग का आश्रय लेकर अपनी सारी इन्द्रियों को विषयों से हटाकर मन में लीन कर लिया और ऐसे मन को बुद्धि में मिला दिया –

स तस्मिन देव सदन आसीनो योगमाश्रितः।

प्रत्याहृतेन्द्रिय ग्रामो युयोज मन आत्मनिः ।। स्कं 6, अं.2

इसके आत्मचिन्तन के द्वारा अजामिल ने अपने बुद्धि से विषयों को पृथक कर भगवान के धाम के अनुभव स्वरूप में जोड़ दिया। इस प्रकार बुद्धि त्रिगुणमयी प्रकृति से उपर उठकर भगवान में लग गया। तब उसे वही चारों पार्षदों का दर्शन हुआ। अजामिल ने उनका प्रणामादि से सत्कार किया। इस दर्शन के पश्चात गंगातट पर अपना शरीर त्याग भगवान के पार्षदों का स्वरूप प्राप्त कर लिया। स्वर्णमय विमानारूढ़ हो बैकुण्ठ धाम को प्राप्त हुये –

साकं विहायसा विप्रो महापुरुषकिंकरैः।

हैमं विमानमारुह्य ययौ यत्र श्रियः पतिः ।।44।। स्क.6 अं.2

तीसरे अध्याय में यमदूतों ने यमराज से जाकर घटित घटना का वर्णन किया है। यमराज ने उन्हें भगवान की भक्ति के महत्त्व को समझाया है। उन्होंने कहा स्वयं नारायण हमारे भी स्वामी हैं। उन्होंने ही धर्म की मर्यादा का निर्माण किया है। उसके मर्म को ठीक–ठीक न तो ऋषि जानते हैं न देवता या सिद्धगण। श्री सुकदेव जी ने कहा– परीक्षित ! मलय पर्वत पर विराजमान भगवान् अगस्त्य जी ने यह वृत्तान्त मुझे सुनाया था।

चौथे अध्याय में दक्ष द्वारा भगवान की स्तुति से प्रसन्न होकर भगवान प्रकट हुये इसका विवरण विस्तार पूर्वक दिया गया है। तीसरे स्कन्ध में देवता, असुर, मनुष्यादि की सृष्टि कैसे हुआ है, बताया जा चुका है। छठे स्कन्ध के इस चतुर्थ अध्याय में राजा परीक्षित ने भगवान के सृष्टि विस्तार को पुनः जानना चाहा है। योगी परमोत्तम भगवान शुकदेव जी ने कहा– राजा प्राचीन बर्हि के दस पुत्र प्रचेताओं ने अपनी समाधि तप से उठकर देखा पृथ्वी पेड़ों से घिर गयी है। तब उन्होंने अपने मुख से वायु और अग्नि पैदा कर वृक्षों वनस्पतियों का नाश करना शुरू कर दिया। तब चन्द्रमा ने युक्ति पूर्वक उनके क्रोध को शांत किया। चन्द्रमा ही वनौषधियों के राजाधिराज हैं।

चन्द्रदेव ने प्रम्लोचा अप्सरा की सुन्दर कन्या दी। प्रचेताओं ने उसे पत्नि रूप में स्वीकारा। जिससे दक्ष की उत्पत्ति हुई। दक्ष की प्रजा सृष्टि से तीनों लोक भर गया। उन्होंने विंध्याचल पर्वत पर "हंस गुह्य" नामक स्तोत्र से इन्द्रियातीत भगवान की स्तुति की। उन्होंने कहा– प्रभो ! आप अनन्त हैं। आपका न तो कोई प्राकृत नाम ही है न रूप ही। जो आप पर आश्रित होकर आपको ही भजते हैं, उनके ऊपर अनुग्रह करने हेतु प्रभो ! आप अनेक नाम रूप धारण कर लीला करते हैं। प्रभो ! मुझे आत्मप्रसाद से पूर्ण कर दीजिये। भगवान गरुड़ारुढ़ प्रकट होकर बोले– परम भाग्यवान दक्ष। तुम्हारी तपस्या सिद्ध हो गयी। अब तक तो मानसी सृष्टि होती थी, परन्तु अब तुम्हारे बाद सारी प्रजा मेरी माया से स्त्री–पुरुष के संयोग से ही उत्पन्न होगी। ऐसा वरदान दे भगवान अन्तर्ध्यान हो गये।

पाँचवे अध्याय में श्री नारद जी की दक्ष शाप की कथा कही गयी है। दक्ष ने अपने तप से दस हजार पुत्र पैदा किये और उन्हें संतान उत्पन्न करने की आज्ञा दिया। वे सभी पश्चिम दिशा में सिन्धु नदी एवं समुद्र के संगम पर स्थित नारायण–सर जहाँ सिद्धों का निवास है, गये। नारायण–सर में स्नान मात्र से उनके अन्तःकरण शुद्ध हो गये। तभी देवर्षि नारद ने उनके पवित्र अन्तः करण में अपने निवृत्ति परक उपदेश द्वारा उन्हें विरक्त बना दिया। इन दस हजार हर्यश्वों ने सद्‌गुरु नारद जी की परिक्रमा करके मोक्ष पथ के पथिक बन गये।

दक्ष प्रजापति ने देखा नारद जी ने मेरे पुत्रों को कर्तव्यच्युत कर आत्मोपलब्धि करा दिया। वे बड़े क्रोधित हुये और नारद जी को भाँति – भाँति से आरोपित करते हुये बोले – जाओ, लोक लोकान्तरों में भटकते रहो। कहीं भी तुम्हारे लिये ठहरने की ठौर नहीं होगी।

श्री नारद जी ने " बहुत अच्छा " कहकर दक्ष का शाप स्वीकार कर लिया। साधुता इसी का नाम है। बदला लेने की शक्ति रहने पर भी दूसरे का किया हुआ अपकार सहलेना सबसे बड़ा सन्तत्व है।

गीता का स्वाध्याय मानव के लिए हितकारी है

– श्री दिनेश चन्द शर्मा

महात्मा गाँधी जी ने लिखा है कि जब निराशा मेरे सामने आ खड़ी होती है। मुझको प्रकाश की कोई किरण नहीं दिखाई पड़ती, तब मैं गीता की शरण लेता हूँ। देश–विदेशों में हजारों विद्वानों ने श्रीमद् भगवद्गीता को श्रेष्ठ ग्रन्थ माना है। यह ज्ञान का स्रोत और मानव मात्र के लिए मार्ग दर्शक है। इस ग्रन्थ का स्वाध्याय धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों को देने वाला है।

परम पूज्य गुरुदेव योगीराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज प्रतिदिन गीता पाठ कराते थे। यह परम्परा श्री सिद्धगुफा सवाई तथा अन्य आश्रमों में चली आ रही है कि प्रातः कालीन आरती के पश्चात गीता के दो अध्यायों का प्रतिदिन सामूहिक रूप से पाठ किया जाता है।

श्रीमद्भगवत गीता की महिमा बताते हुए कहा गया है कि " गीता अध्ययन शीलस्य, प्राणायाम् परस्य च नैव सन्ति ही पापानि पूर्व जन्म कृतानि च। " यह पापों–कष्टों को दूर करती है। यह ऐसा अनुपमेय शास्त्र है जिसमें एक भी शब्द सदुपयोग से खाली नहीं है। श्रद्धापूर्वक गीता का अध्ययन – स्वाध्याय निस्सन्देह कल्याणकारी है।

मान्यता है कि श्रीमद् भगवद्गीता भगवान श्रीकृष्ण का ही साक्षात् ज्ञान स्वरूप है। जो लोग नियमित रूप से गीता के श्लोकों का पाठ करते हैं, उन्हें भगवान की कृपा प्राप्त होती है। गीता पाठ के साथ ही इस दिव्य ग्रन्थ में दी गई शिक्षाओं का पालन भी दैनिक जीवन में करना चाहिए।

वर्तमान समय में गीता धार्मिक ग्रन्थ ही नहीं रह गयी है, अपितु व्यापार के संदर्भ में भी महाग्रन्थ मानी गई है। देश ही नहीं विदेशों में भी बड़े–बड़े प्रबन्ध संस्थान गीता के ज्ञान को अपनाने लगे हैं। इसमें प्रबन्धन से लेकर नेतृत्व के गुणों और व्यापार सूत्रों की भी उपलब्धता है।

अमेरिका के प्रसिद्ध संस्थान हावर्ड बिजनेस स्कूल, मिशिगन रॉस स्कूल आफ बिजनेस, के लॉग स्कूल ऑफ बिजनैस जैसे संस्थान गीता को प्रबन्धन (मैनेजमेन्ट) का मंत्र मानने लगे हैं। देश के भी कई प्रबन्धन संस्थानों ने गीता ज्ञान को मैनेजमेन्ट के कोर्स माड्यूल में रखा है। इसे पढ़ाने के लिए आध्यात्मिक गुरु विजिटिंग फैकल्टी के रूप में जाते हैं।

लोग यह मानने लगे हैं कि गीता में हर वो ज्ञान है जो किसी भी मैनेजर के लिए जरूरी माना जाता है। जहाँ कारोबार के सिद्धांतो के दावपेंच काम करना बन्द कर देते हैं, वहाँ गीता ज्ञान इनसे भी आगे आकर काम करता है।

विश्व की अनेक कॉरपोरेट कम्पनियों में अपने कार्मिकों को नैतिक बल, नेतृत्व क्षमता,

कार्य दक्षता और व्यक्तित्व विकास के लिए गीता के सूत्र वाक्यों का उपयोग किया जा रहा है। हमारे देश में अनेक दफ्तरों की दीवारों और नोटिस बोर्डआदि पर गीता के प्रेरणा दायी सूत्र वाक्य लिखे दिख जाते हैं। पुलिस थानों पर भी लिखा मिल जाता है – " **परित्राणाय साधुनाम विनाशाय च दुष्कृताम्।** "

देश की सबसे बड़ी बीमा कम्पनी – भारतीय जीवन बीमा निगम (एल. आई.सी.) का ध्येय वाक्य " योगक्षेम्यम् वहाम्यम् " गीता से ही लिया गया है। दिल्ली मेट्रो द्वारा भी समय समय पर गीता मर्मज्ञों को प्रेरणा प्रद प्रवचन (मोटिवेशनल स्पीच) देने हेतु बुलाया जाता है।

गीता पर आदि गुरु भगवान शंकराचार्य जी महाराज से लेकर विभिन्न धर्माचार्यों, विचारकों, विद्वानों द्वारा असंख्य टीकाएँ लिखी गई हैं और यह क्रम अनवरत जारी है। अब तो गीता में निहित मैनेजमेन्ट के मंत्रों को बताने वाली अनेक पुस्तकें लिखी जा रही हैं। स्वामी सोमेश्वरानन्द की " बिजनैस मैनेजमेन्ट : द गीता वे ", अरुण कुमार की मैनेजमेन्ट लीडरशिप थ्रू भगवद् गीता, पूजन रोका की " भगवद्गीता आन इफेक्टिव लीडरशिप ", स्वामी बोधानन्द की " द गीता एण्ड मैनेजमेन्ट", ए.के. श्रीवास्तव की " भगवद् गीता : इकोनामिक डेवलपमेन्ट एण्ड मैनेजमेन्ट आदि अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं।

गीता के सिद्धांत आध्यात्मिक दृष्टिकोण लिए हुए हैं और पाँच हजार वर्षो के बाद भी आज के संदर्भ में जीवन में उपयोगी और शाश्वत हैं। गीता का पठन–पाठन– स्वाध्याय मानव मात्र के लिए हितकारी है। हर कोई इसका लाभ उठा सकता है। इसमें सम्पूर्ण वेदों का सार है। यह ऐसा अनुपमेय शास्त्र है जिसमें एक भी शब्द सदुपयोग से खाली नहीं है।

श्री मद्भगवद गीता को भली प्रकार पढ़कर अर्थ एवं भाव सहित अन्तः करण में धारण करना चाहिए; गीता का अध्ययन, मनन, पाठन स्वयं भी करें और अन्यों को भी करायें। यह सभी के लिए कल्याणकारी है।

● ● ●

''मन में भय, अशान्ति, उद्वेग और विषाद को स्थान न दो। भगवान् की दया अथवा आत्मा की पवित्रता और नित्यता पर विश्वास रखकर सदा शान्त, निर्भय और प्रसन्न रहने का यत्न करो।''

नाभि - चालन

जीवन तत्व साधन की चौथी क्रिया का नाम नाभि–चालन है। इसमें दाँये से बाँये व बाये से दाँये करवट बदलने की क्रिया की जाती है। इसका यथार्थ रूप वह है कि जिस तरह कोई मगरमच्छ किसी जीव का भक्षण करके बाहर बालू में आकर अपने पेट को इधर–उधर हिलाता है और बड़े से बड़े जीव को भी हजम कर जाता है, उसी प्रकार इस क्रिया को करके पेट की अग्नि को तीव्र किया जाता है।

इस क्रिया की विधि यह है कि पहले चित्त लेट जाओ। हाथ बगल में पड़े रहें। दोनों पैरों को मिला लो। अब बाँयी ओर करवट लो, मगर पेट के नीचे का ही भाग घूमे। छाती कुछ उठेगी और दाहिना कन्धा भी कुछ उठ जायेगा। सिर बाकायदा एक ही जगह पर कायम रहेगा। बाँयी करवट लेने के तुरन्त बाद दाहिनी करवट ले लो, इसमें भी धड़ का भाग ही घूमेगा, सिर एक जगह रहेगा। इसी तरह बाँये व दाँये करवट पलटता रहे। कहीं रुकने की जरूरत नहीं है। लगातार पल्टा खाता रहे। इस क्रिया को कम से कम पन्द्रह मिनट तक करना चाहिए और अधिकतम आधे घण्टे तक किया जा सकता है। यदि गिनती से इस क्रिया को किया जावे तो पन्द्रह मिनट में एक हजार बार करवट बदलना पड़ेगा।

इस क्रिया को करने से भूख अधिक लगती है। खाना भी हजम हो जाता है। मन्दाग्नि समाप्त हो जाती है। जिनके पेट में हवा बनती है, वह भी बननी बन्द हो जाती है।

जो भोजन मुख में डाला जाता है उसे पहले दाँतों से चबाया जाता है। फिर वह गले के रास्ते पेट में जाता है। पेट या पाकस्थली या आमाशय एक नाशपाती की शक्ल की एक खोखली थैली जैसी है। यह बाँई ओर की उदर गुहा के ऊपरी भाग में और उदर वक्ष व्यवधायक पेशी के ठीक नीचे की ओर है।पाकस्थली के तीन प्रधान स्तर हैं– सबसे ऊपर वाला स्तर (Peritonem) है। इसके द्वारा यह उदर प्राचीर से संयुक्त रहता है तथा लसिका का दौरा ठीक करने में सहायता करता है। दूसरा मध्यस्थ (Muscular coat) है। यह माँसपेशी का बना है। पाकस्थली में भोजन का पदार्थ जाते ही ये सब माँसपेशियाँ एक के बाद एक संकुचित होकर लहरें जैसी उठने लगती हैं। जिससे खाया हुआ पदार्थ तुरन्त चूर–चूर हो जाता है। तीसरा अन्तरमन स्तर (Muscous coat) है। इससे रस स्राव होता है। अधिक रस निकलने के लिए इसमें श्लैष्मिक झिल्ली के बहुत से छोटे–छोटे छेद हैं। इसकी कोशिकाओं में कोई रक्तवाहिनी नहीं होती परन्तु इसकी जड़ तक बहुत सी रक्त वाहिनियाँ जाती हैं। श्लैष्मिक झिल्ली का कार्य रक्त स्राव करना है।

पेट के अन्दर झिल्ली में एक प्रकार का नमक उत्पन्न होता है। जिसे Hydrochloric acid कहते हैं। साथ ही Pepsin और Ranet नाम के दो रस और होते हैं जो कि भोजन के साथ मिलकर

उसे पाचन योग्य बना देते हैं। इसके बाद भोजन बारीक होकर आँतों में चला जाता है। जब भोजन को दाँतों से अच्छी तरह नहीं चबाया जाता तब पेट का काम बढ़ जाता है और उसकी शक्ति क्षीण होने लगती है। व्यायाम न करने से अथवा गरिष्ठ खाने से भी पाचन प्रणाली बिगड़ जाती है और मन्दाग्नि हो जाती है। भूख कम लगती है, खाना ठीक तरह हजम नहीं होता और पाचन प्रणाली बिगड़ने से अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं। इन रोगों को दूर करने के लिए मनुष्य अनेक प्रकार की दवायें खाता है। मगर उससे क्षणिक लाभ होता है।

नाभि–चालन क्रिया करने से आमाशय को बड़ी शक्ति मिलती है। उसकी झिल्लियों से निकलने वाली पेप्सिन व रेनट रस की मात्रा भी बढ़ जाती है और मंदाग्नि दूर होकर भूख लगने लगती है और भोजन अच्छी तरह पच जाता है। जब पाचन प्रणाली ठीक हो जाती है तो शरीर के अन्य रोग भी दूर हो जाते हैं। भगवान् ने गीता में कहा है कि :–

अहं वैश्वानरों भूत्वा, प्राणिनां देहमाश्रितः।

प्राणापान समायुक्तः, पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।

अर्थ – मैं सब प्राणियों के शरीर में स्थित हुआ वैश्वानर अग्नि रूप होकर प्राण और अपान से युक्त हुआ चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ।

भक्ष्य, भोज्य लेह्य और **चोष्य** ऐसे चार प्रकार के अन्न होते हैं। जो चबाकर खाया जाता है– वह भक्ष्य है जैसे रोटी आदि। जो निगला जाता है वह भोज्य है जैसे दूध आदि। जो चाटा जाता है, वह लेह्य है जैसे चटनी आदि और जो चूसा जाता है वह चोष्य है जैसे गन्ना आदि। भोजन के सभी पदार्थ इन्हीं चार प्रकारों के अन्तर्गत आ जाते हैं। इनका पाचन पेट की अग्नि तभी करती है, जब वह प्राण व अपान वायु से युक्त हो जाती है। जब अग्नि मन्द पड़ जाती है तब प्राण अपान से युक्त होकर भी भोजन को नहीं पचा पाती। नाभि–चालन क्रिया की यह विशेषता है कि साधक की अग्नि प्रदीप्त हो जाती है और उसका संयोग प्राण व अपान से भी हो जाता है। यही कारण है कि इस क्रिया को अधिक मात्रा में करने वाले साधक की वैश्वानर अग्नि इतनी तेज हो जाती है कि वह चाहे कच्ची दाल कच्ची सब्जी आदि जो कुछ खावे सब हजम हो जाता है।

नाभि–चालन क्रिया से एक और लाभ अनुभव में आया है। जब इस क्रिया को काफी देर तक किया जाता है तो मूलाधार चक्र पर बार–बार धक्का लगता है और वहाँ पर सोई कुण्डलिनी जाग जाती है और ऊपर चढ़ने लगती है। कुण्डलिनी के जाग्रत होने से क्या लाभ होता है इसे योगी लोग जानते हैं। इसी कुण्डलिनी को जाग्रत करने के लिए योगी लोग अनेक प्रकार की योग की क्रियायें करते हैं। इस विषय को हम विस्तार से समझाने का प्रयास करेंगे।

●●●

– योग वाशिष्ठ से साभार

चित्तरूपी रोग की चिकित्सा के उपाय तथा मनोनिग्रह से लाभ

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं – श्रीराम! यह चित्त एक महान् रोग है। इसकी चिकित्सा के लिये एक बहुत बड़ी औषध है, जो अभीष्टसाधक, निश्चित रूप से लाभ पहुँचाने वाली, परम स्वादिष्ट और अपने ही अधीन है; उसे बताता हूँ, सुनो। राग के विषयभूत बाह्य विषयों का परित्याग करके परमात्मचिन्तनरूपी अपने ही पुरुषार्थ मय प्रयत्न से चित्तरूपी बेतालपर शीघ्र विजय पायी जाती है। जो अभीष्ट वस्तु (बाह्य विषयभोग) – को त्यागकर चित्त के राग आदि रोगों से रहित हो स्वस्थ रहता है, उसने अपने मन को उसी प्रकार जीत लिया है, जैसे मजबूत दाँतों वाला हाथी ख़राब और कमजोर दाँतवाले हाथी को जीत लेता है। स्वसंवेदन (आत्मा या परमात्मा के निरन्तर चिन्तन) – रूपी प्रयत्न से चित्तरूपी बालक का पालन किया जाता है, अर्थात् उक्त यत्न से उसके राग और चपलता आदि रोगों की चिकित्सा करके उसे स्वस्थ बनाया जाता है। उसे अवस्तु (मिथ्या अथवा अनात्मवत्व) – से हटाकर वस्तु (सत्य अथवा अनात्मवस्तु)– में लगाया जाता है तथा उसे बोध से सम्पन्न किया जाता है। जैसे बालक को प्यार या भय दिखाकर बिना प्रयत्न के ही इधर–उधर जहाँ चाहे लगाया जा सकता है, उसी प्रकार भावों से मन को भी अनायास ही अन्तरात्मा में लगाया जा सकता है। ऐसा करने में कठिनाई ही क्या है ?

भविष्य में अभ्युदयरूपी फल को देने वाले सत्कर्म (समाधि के अभ्यास) – में लगे हुए मन को अपने पुरुषार्थ से ही चेतन परमात्मा के साथ संयुक्त करे। जो सर्वथा अपने अधीन और परम हितकर है, वह अभीष्ट वस्तु का त्याग रूपी वैराग्य जिसके लिये कठिन हो गया है, वह मनुष्य नहीं, विषयों का कीड़ा है। उसे धिक्कार है। जैसे कोई पहलवान किसी बालक को अनायास ही पछाड़ देता है, उसी प्रकार अपनी बुद्धि से अरम्य विषय–समूह में परम रमणीय परब्रह्म परमात्मा की भावना करके मन को बिना यत्नके ही जीत लिया जा सकता है। पौरुषरूपी प्रयत्न से चित्त को शीघ्र ही जीत लिया जाता है। जो चित्त को जीतकर उसके प्रभाव से रहित हो गया है, वह बिना किसी प्रयास के परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। अपने चित्त पर आक्रमण करके उसे वश में कर लेना मात्र जो सहज साध्य और स्वाधीन कार्य है, उसे ही जो लोग नहीं कर सकते, वे पुरुष नहीं, गीदड़ हैं। उन्हें धिक्कार है। एकमात्र अपने पौरुष से ही सिद्ध होने वाला जो अभीष्ट वस्तु का त्याग रूपी मनोनिग्रहकर्म है, उसके बिना शुभगति नहीं हो सकती । अभीष्ट बाह्य विषयों का स्मरण न करना अथवा मनोवाञ्छित मोक्ष–सुख की प्राप्ति कराना जिसका स्वरूप है, उस मुख्य साधन मनोनिग्रह के बिना गुरुका उपदेश, शास्त्र के अर्थ का चिन्तन और मन्त्र आदि सारे साधन या युक्तियाँ तिनकों के समान व्यर्थ हैं।

संकल्पों के परित्याग रूपी शस्त्र से जब चित्तरूपी वृक्ष का समूल उच्छेद हो जाता है,

तब साधक सर्व–स्वरूप सर्वव्यापी शान्त ब्रह्मरूप हो जाता है। श्रीराम ! जैसे दिग्भ्रम होने पर पूर्व में पश्चिम की प्रतीति होने लगती है और वह अनुभव के विपरीत बुद्धि उस समय बिलकुल स्थिर हो जाती है, परंतु विवेकरूपी पुरुष–प्रयत्न से उस भ्रान्त बुद्धि का भी शीघ्र ही निवारण किया जा सकता है, उसी तरह मन को भी वैराग्य रूपी पुरुष–प्रयत्न से शीघ्र ही जीता जा सकता है। मन में उद्वेग का न होना राज्य आदि सम्पत्ति का मूल कारण है। उद्वेग या उकताहट न होने से ही जीव को अपने मन पर विजय प्राप्त होती है, जिससे तीनों लोकों पर विजय पाना तृण के समान सहज हो जाता है। जो नराधम अपने मनके निग्रह में भी समर्थ नहीं हैं, वे व्यवहार – दशाओं में व्यवहार का निर्वाह कैसे कर सकेंगे ? मैं पुरुष हूँ, मरा हूँ, उत्पन्न हुआ हूँ और जी रहा हूँ इत्यादि कुदृष्टियाँ चञ्चल चित्त की वृत्तियाँ ही प्रतीत होती हैं, जो बिना हुए ही प्रकट हुई हैं। यहाँ न तो किसी की मृत्यु होती है और न कोई जन्म ही लेता है। मन स्वयं ही अपने मरण का तथा लोकान्तरगमन का संकल्पमात्र से अनुभव करता है। जो नित्य सत्, सबका हितकारी, मायामयी मलिनता से रहित और सर्वव्यापी परमात्मा हैं, उनमें चित्त का लय हुए बिना मुक्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं है। इस बात का ऊपर – नीचे तथा अगल–बगल के लोकों में रहने वाले तत्त्वदर्शी विद्वानों ने बारम्बार विचार किया है और सब के सब इसी निश्चय पर पहुँचे हैं कि चित्त की शान्ति के सिवा मुक्ति का दूसरा कोई उपाय है ही नहीं। ऋतु, सत्य, व्यापक और निर्मल ज्ञान का हृदय में उदय होने पर मन के लय होने मात्र से परम शान्ति प्राप्त हो जाती है। यदि आपातरमणीय विषयों को तुम–जैसे विद्वान् ने अरमणीय वस्तुओं की कोटि में समझ लिया है, तब तो मेरा विश्वास है कि तुमने चित्त के सारे अङ्ग काट डाले हैं। यह सामने दिखायी देने वाला जो वह (पिता से उत्पन्न) शरीर है, वह मैं हूँ और यह जो घर, खेत आदि धन है, यह सब मेरा है। यह ' मैं ' और ' मेरा ' ही मन है। यदि यह मैं और मेरेपन की भावना न की जाय तो उससे मन उसी तरह कट जाता है, जैसे हँसिया से तृण। जैसे शरद्–ऋतु में आकाश में बिखरे हुए बादलों के टुकड़े वायु द्वारा उड़ा दिये जाते हैं, उसी प्रकार मैं और मेरेपन की कल्पना या भावना न करने से मन भी उड़ा दिया जाता है – नष्ट कर दिया जाता है। इसलिये कोई विज्ञ पुरुष जैसे अपने बालक पुत्र को अच्छे कर्म में लगाता है, उसी तरह विद्वान् पुरुष को चाहिये कि वह अपने मन को कल्याण में लगाये। जिसका नाश होना कठिन है तथा जो नूतन या बालक न होकर सयाना और दर्पसे भरा हुआ है, उस मनरूपी सिंहको, जो संसार का विस्तार करने वाला है, जो लोग मार डालते हैं, वे निर्वाणपद का उपदेश देने वाले महात्माजन इस संसार में धन्य हैं। उनकी सदा ही विजय होती है। भले ही प्रलयकाल के प्रचण्ड पवन प्रवाहित हों, चारों समुद्र एक में मिलकर एकार्णव हो जायँ और बारहों सूर्य एक साथ तपने लगें; परंतु जिसका मन शान्त हो गया है, उस पुरुष की कभी कोई हानि नहीं होती।

● ● ●

आध्यात्मिक प्रगति के तीन मार्ग

— प्रो. ऋषिराम शर्मा

यह गणितीय सूत्र शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर आध्यात्मिक प्रगति की रूपरेखा प्रदान करता है। इस रूपरेखा में प्रगति के तीन मुख्य मार्गों का संकेत दिया गया है। (1) ज्ञानमार्ग (सांख्ययोग) (2) भक्तिमार्ग (3) साधन मार्ग (कर्मयोग)। यह तीनों मार्ग परस्पर सम्पूरक हैं और सूत्र के अवयवों के माध्यम से परस्पर संयुक्त हैं। तीनों मार्गों का अन्तिम गन्तव्य स्थान अध्यात्मसिद्धि है। यह मार्ग तीन मुख्य पथ हैं जोकि एक ही संसाररूपी भयानक जंगल से गुजरते हुए एक ही लक्ष्यस्थान पर पहुँचते हैं किन्तु मार्ग के अनेक स्थानों पर पुनः पुनः संयुक्त, सहयोगी तथा पृथक-पृथक पथ का अनुसरण करते हैं। किस साधक के लिए कौन सा मार्ग सुगम तथा अनुकूल होगा यह उस साधक के पूर्वसंस्कारों से निर्मित स्वभाव पर निर्भर करता है। मनुष्ययोनि के इतरयोनियाँ भोगयोनियाँ हैं जिनमें आध्यात्मिक संस्कार सुप्तावस्था ($R=O$, $S=I$) में रहते हैं। अतः उन योनियों में कोई आध्यात्मिक साधना नहीं होती। मनुष्ययोनि में $R>,0$ तथा $S>,1$ रहता है जिसका वर्णन हमने सूत्र की भूमिका में किया है। यही मनुष्ययोनि की विशेष महत्ता है तथा इसी योनि में अध्यात्मसिद्धि (S-co) सम्भव है जबकि $R>1$ तथा तीव्र पुरुषार्थ एवं साधना के साथ साधक गुरुकृपा तथा ईश्वरकृपा का अधिकारी हो, अन्यथा नहीं। शास्त्र का प्रमाण है कि –

यदेव विद्यया करोति श्रद्धोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति।।

(छान्दो.उप. 1/1/10)

तीव्रसंवेगानां आसन्नः
भवप्रत्ययः विदेहप्रकृतिलयानाम्
श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकं इतरेषाम्

(योगदर्शन 1/19,20,21)

पश्चात् पुण्येन लभते सिद्धेन सह संगतिम्।
ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा।।
ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभावितम्।
योगेन रहितं ज्ञानं न मोक्षाय भवेत् विधे।।

...ध्यात्मिक साधना में विवेकज्ञान तथा वैराग्य के साथ अनन्यभक्तिपूर्वक

कठोर साधना वाला पुरुषार्थ ही शीघ्र फलदायी होता है। जीवात्मा अनादिकाल से माया के बन्धन में है और उसके अन्तःकरण में अनन्त जन्मों के कर्माशय का मलावरण है। ऐसी स्थिति में माया के मलावरण का नाश कर अन्तःकरण को निर्मल बनाना अत्यन्त दुरूह तथा कठिनतम कार्य है। भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं स्वीकार किया है कि –

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।

अर्थात् गुणमयी परमात्मा की माया के पाश से मुक्ति दुर्लभ है, परमात्मा में अनन्या भक्ति ही एकमात्र उपाय है किन्तु –

जन्मान्तरसहस्त्राणां तपोज्ञानसमाधिभिः।
जनानां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते।।

अर्थात् निरन्तर हजारों जन्मों की तपस्या, विवेकज्ञान तथा अष्टांगयोग की कठिन साधना के द्वारा पाप नष्ट होने पर ही परमात्मा में अनन्या भक्ति होती है। समाधि की साधना से अन्तःकरण में चित्तवृत्तियों का पूर्ण निरोध होने पर विदेहावस्था तथा प्रकृतिलय योगी ही एक जन्म में इस योगसिद्धि को प्राप्त कर सकते हैं, अन्यथा श्रद्धाभक्ति, तप, आध्यात्मिक संस्कारों का संचय तथा सप्तधाप्रज्ञा वाली समाधियों की निर्बाध तथा निरन्तर साधना के द्वारा पुण्यों की वृद्धि से सिद्धपुरुषों की संगति पाकर उनकी कृपा तथा निर्देशन से यह सम्भव है। परमात्मा स्वयं अनादि सिद्ध है। अतः सिद्धकृपा से ही माया से मुक्ति सम्भव है, क्योंकि शास्त्र का कथन है कि –

मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यैव अवयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।।

अर्थात् यह संसाररचयिता प्रकृति परमात्मा की माया ही है और परमात्मा स्वयं मायावी यानि मायापति है। यह संसार इसी माया द्वारा रचित अवयवों से ही बना है। अतः इस माया से मुक्ति उसी को आत्मनिवेदन से सम्भव है अन्यथा नहीं। ज्ञानमार्ग में आत्मचिन्तन ही आत्मनिवेदन है, भक्तिमार्ग में अनन्या भक्ति ही आत्मनिवेदन है तथा साधनमार्ग में साधना के फल को सिद्ध महापुरुष के चरणों में समर्पण कर देना ही आत्मनिवेदन है। यह तीनों मार्ग एक दूसरे पर किस प्रकार आश्रित हैं इसका प्रमाण भी हमारे शास्त्र वाक्य हैं कि –

सन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिः ब्रह्मनचिरेण अधिगच्छति।।
पुरुषः सः परः पार्थ भक्त्या लभ्यः तु अनन्यया।
यस्यान्तस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।।

जन्मान्तरसहस्त्रेषु तपोज्ञानसमाधिभि:।
जनानां क्षीणपापानां कृष्णे भक्ति: प्रजायते।।
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मषु अनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसन्यासी योगारूढ: तदोच्यते।।
यत: प्रवृत्ति: भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव:।।
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वत:।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।

अर्थात् ज्ञानमार्ग का सन्यासधर्म शरीरधारियों के लिए अत्यन्त कठिन उपासना है क्योंकि निर्गुण, निराकार अनिर्वचनीय तथा कूटस्थ परम ब्रह्म में मन तथा बुद्धि को समाहित करना बुद्धिबोधात्मक मनुष्य के लिए दुर्लभ सिद्धि है। इसके लिए पहले परमात्मा के सगुण स्वरूप में मन तथा बुद्धि की लग्नता यानि समाधि की योगसाधना आवश्यक हो जाती है और तब योगयुक्त होकर ही अव्यक्त निर्गुण परमब्रह्म में प्रवेश सम्भव है। इसी प्रकार उस परम ब्रह्म का तत्वज्ञान भक्ति के द्वारा ही प्राप्य है, क्योंकि जिसके सर्वाधार सर्वव्यापक स्वरूप में सभी प्राणियों का निवास है तथा जिसकी माया के अवयवों से संसार व्याप्त है उसी की कृपा से चित्त में ज्ञानज्योति का उदय होता है। अत: ज्ञानमार्ग का तत्वज्ञान भक्ति एवं योगसिद्धि पर भी आश्रित है। भक्तिमार्ग की अनन्या भक्ति का उदय भी सहस्त्रों जन्मों की योगसाधना तथा विवेकज्ञान के द्वारा पापसंस्कारों के नष्ट होने पर ही निर्मल चित्त में होता है। योगसिद्धि के लिए भी सर्वसंकल्प सन्यास तथा विषयभोगों से पूर्ण वैराग्य परमावश्यक है। इसी तरह जिस परमात्मा के स्वरुप से यह जगत प्रकट हुआ अपनी कर्मयोग की साधना से उसकी भक्ति के बिना योगसिद्धि सम्भव नहीं होती, क्योंकि अनन्या भक्ति से ही परमात्मभाव में प्रवेश कर परमात्मा के तत्वज्ञान के बाद ही योगी को योगसिद्धि प्राप्त होती है। अत: सभी तीनों मार्ग अन्योन्याश्रित हैं। किस साधक को किस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए यह उसके स्वभावगत संस्कारों पर निर्भर करता है। भगवान श्रीकृष्ण का स्पष्ट आदेश है कि –

स्वभावजेन तु कौन्तेय निबद्ध: स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छति यन्मोहात करिष्येस्यवशोऽपि तत्।।
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजयेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता:।।
असक्तबुद्धि: सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृह:।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्यासेन अधिगच्छति।।
चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्यस्य मत्पर:।

बुद्धियोगमुपश्रित्य मच्चित्त: सततं भव।।
मच्चित्त: सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारात् न श्रोष्यसि विनंक्षसि।।

अर्थात् माया के गुणकर्मविधान में प्रारब्ध को भोगने के लिए जीवात्मा को योनि की प्राप्ति होती है। इन्हीं प्रारब्धकर्मों से मनुष्य का स्वभाव बनता है। अत: स्वभावज कर्मों को करने के लिए प्रत्येक प्राणी बाध्य होता है और यदि मनुष्य अपने अहंकार से स्वभावज कर्मों की अवहेलना करता है तब भी प्रकृति उस कर्म को करने के लिए उसे विवश कर देगी, क्योंकि प्रारब्ध के भुगतान के बिना तो उसकी जीवनयात्रा भी नहीं चलेगी। अज्ञानी तो मायाबद्ध है और मायिक विधान के अनुसार कर्मभोग के लिए विवश है किन्तु मायातीत ज्ञानी को भी शरीर का प्रारब्धभुगतान करना पड़ता है। इसलिए यह परमात्मा का संदेश है कि दोषपूर्ण होते हुए भी स्वभावज कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार अग्नि में धुआँ का दोष छिपा रहता है उसी प्रकार प्रत्येक कर्म में कोई न कोई गुणदोष रहता है, इसलिए कर्म के कर्मफल को मन से परमात्मा को समर्पण कर देने से गुणदोष से मुक्ति तथा परमात्मा में भक्ति का लाभ मिलता है। कर्मफल में निरासक्ति, परमात्मा में प्रेमभक्ति तथा संकल्प–विकल्परहित चित्त में कर्मबन्धन से मुक्ति तथा ज्ञानचक्षु की प्राप्ति होती है। इसलिए सांसारिक व्यवहार में सभी कर्मों का लक्ष्य लोकहित तथा परमात्मा की प्रसन्नता होने से मार्ग की समस्त बाधायें नष्ट हो जाती हैं और आध्यात्मिक प्रगति सुगम हो जाती है, क्योंकि यह तो परमात्मा का स्वभाव है कि –

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान् तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या: पार्थ सर्वश:।।

अर्थात् जो मनुष्य मुझे यानि परमात्मा को जिस भावना से भजता है परमात्मा भी अपनी अनन्त शक्ति तथा सर्वज्ञता से उसे उसी भावना से भजता है यानि दु:खों से पूर्णमुक्ति दे देता है। यदि अपने अहंकार के वशीभूत जो मनुष्य परमात्मा की अहैतुकी कृपा का लाभ नहीं उठाते, वह माया के इस भवसागर में डूबते रहते हैं। निष्कर्ष यही है कि स्वभावज प्रारब्धकर्मों का निर्लिप्त तथा निरासक्त भाव से पालन करते हुए जो अपने स्वभावानुकूल मार्ग पर चलते रहते हैं उन्हें ही अध्यात्मसिद्धि का लक्ष्य प्राप्त होता है। इस निष्कर्ष की पुष्टि के लिए मैं अपने जीवन की कुछ सत्य घटनायें बताना चाहता हूँ, यद्यपि मुझे संकोच है क्योंकि सबकी श्रद्धा तथा संस्कारों की स्थिति भिन्न होती है। एक घटना तो गुरुमुख से सुनी हुई है जिस पर मुझे पूर्ण विश्वास है। गुरु जी ने बताया कि उनके वृन्दावन के निवासकाल में एक वैराग्यवान साधक मिला जिससे घनिष्ट मित्रता हो गयी थी। महाप्रभु जी के विषय में गुरुदेव से सुनकर उसकी उनके दर्शन तथा दीक्षा लेने की इच्छा हो गई थी। गुरुदेव का प्रिय पात्र होने के नाते उसे ऋषिकेश लाने की पत्र द्वारा आज्ञा माँगी तो महाप्रभु जी ने उत्तर में मना कर दिया। कई बार प्रयास करने पर भी जब आज्ञा नहीं मिली तो बिना आज्ञा के ही उसे ऋषिकेश अपने साथ ले

जाने की तिथि निश्चित कर ली। जिस दिन रात्रि की ट्रेन से जाना था उस दिन प्रतिदिन की दिनचर्या के अनुसार सुबह बांकेबिहारी जी के मन्दिर में आरती में सम्मिलित हुए तब आरती के बाद भी उस मित्र की आँख नहीं खुली और वह शाम तक उसी मुद्रा में मन्दिर में ही ध्यानस्थ रहा। जब शाम को उसका ध्यान टूटा तब उससे ध्यान के विषय में पूछा और ऋषिकेश चलने को कहा। उसने ऋषिकेश जाने को मना कर दिया और अपना अनुभव बताया कि आरती के समय उसे अपने सिर पर किसी के हाथ का स्पर्श का अनुभव हुआ तो उसकी दृष्टि में भगवान श्रीकृष्ण की मूर्ति जीवित दिखाई देने लगी और वह ध्यानस्थ हो गया और ध्यान टूटने तक भगवान श्रीकृष्ण की दिव्य लीलायें देखता रहा। अत: वह अब कहीं नहीं जायेगा और वृन्दावन में ही रहकर भगवान की उपासना करेगा। इस घटना के उपरान्त जब गुरु जी ऋषिकेश गये और महाप्रभु जी से आज्ञा न देने का कारण पूछे तब महाप्रभु जी ने कहा कि उसमें भक्तिमार्ग के संस्कार हैं। अत: उसका यहाँ लाना ठीक नहीं था क्योंकि उसमें योगसाधना करने के संस्कार नहीं हैं। यह घटना सिद्ध करती है कि स्वभावज मार्ग अपनाना ही श्रेयष्कर है। अब मैं अपने जीवन की कुछ सत्य घटनायें बताना चाहता हूँ जो यह सिद्ध करती हैं कि प्रत्येक व्यक्ति का जीवन जगदम्बा की कृपा से प्रारब्धसंस्कारों के अनुसार चलता है। मेरा जन्म मुरादाबाद जिला के एक गाँव में गरीब ब्राह्मण परिवार में हुआ। उच्च शिक्षा के लिए माता–पिता कोई आर्थिक सहायता नहीं कर सकते थे। जूनियर हाईस्कूल (मिडिल क्लास) के बाद हमारे अध्यापक ने छात्रवृत्ति की परीक्षा दिलाई, उत्तीर्ण हुए और मुरादाबाद में बैजनाथ संस्कृत पाठशाला में रहने, खाने–पीने की मुफ्त व्यवस्था हो गयी, संस्कृत का अध्ययन करते हुए कॉलिज में नवें क्लास में प्रवेश मिला। इस प्रकार इण्टर के साथ–साथ मध्यमादि की संस्कृत परीक्षायें उत्तीर्ण की और पाठशाला के प्रधानाचार्य सुप्रसिद्ध विद्वान सुदर्शनाचार्य जी ने पत्र लिखकर आगरा भेज दिया जहाँ आलू वाले बाबा के सन्यासी आश्रम में एक महापुरुष स्वामी नित्यानन्द जी महाराज ने रहने को कमरा दे दिया और स्वामी जी के सत्संगियों ने अपने बच्चों को पढ़ाने के ट्यूशन दे दिये। यह सब इस तरह घटित हो रहा था जैसे जगदम्बा स्वयं घटनाचक्र चला रही हों। 1958 में आगरा कॉलिज से बी.ए. उत्तीर्ण करने पर तीव्र वैराग्य हुआ और स्वामी जी से सन्यास लेने की आज्ञा माँगी तो उन्होंने मना कर दिया और कहा कि "सन्यास लिया नहीं जाता अपितु हो जाता है, तुम सन्यासधर्म के अधिकारी नहीं हो।" इस घटना के पश्चात् स्वामी जी के एक सत्संगी पं. लक्ष्मी नारायण वैद्य जी मेरे कमरे में आये और बोले कि यहाँ से 15 किमी. की दूरी पर 'सिद्धगुफा' है वहाँ एक सिद्धयोगी श्री चन्द्रमोहन जी महाराज ब्राह्मण के वेश में रहते हैं, दर्शन करने चलोगे। मैंने हामी भर दी और उनके साथ मैंने उनके दर्शन किये। मैं कुछ दिन के लिए वहीं ठहर गया। मुझे गुरुदीक्षा मिल गयी। मन की एकाग्रता तेजी से बढ़ी। रामनवमी के अवसर पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय में गणित के प्रवक्ता डॉ. विनोद बिहारी जौहरी गुरु जी के दर्शन के लिए आये और गुरु जी ने उन्हें आज्ञा दी कि वह मुझे अपने साथ ले जायें और विश्वविद्यालय में मेरा प्रवेश करायें। मैं इलाहाबाद आ गया, प्रवेश भी मिल गया और अपने घर के पास ही एक छोटा कमरा

भी दिला दिया। एम.ए. (मैथ्स) के क्लास में जाना आरम्भ किया तो विभाग के प्रवक्ता श्री बनवारी लाल शर्मा जी ने तीन ट्यूशन दिला दिये। मैं अपने पिछले 50 वर्षों की जीवनगाथा नहीं लिखना चाहता बस इतना कहना चाहता हूँ कि प्रारब्धभोग माया की अनिवार्य व्यवस्था है और मेरा यह प्रत्यक्ष अनुभव है कि मेरे गुरुदेव को मेरे जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं का पूर्वज्ञान था। परमात्मसाक्षात्कार के लिए निर्मल चित्त की स्थिति की अनुकूल घटना मनुष्य के जीवन की अन्तिम घटना है, क्योंकि कृतार्थ महापुरुष का प्रारब्ध नहीं बनता। माया के गुण ही उसके लिए पुरुषार्थशून्य हो जाते हैं। अब मैं परमात्मा की वाणी में तीनों मार्गों का संक्षिप्त वर्णन देना चाहता हूँ।

ज्ञानमार्ग

ज्ञानमार्ग अध्यात्म–सिद्धि का कठिनतम मार्ग है। कारण यह है कि जिस चित्त में परमात्मज्ञान का उदय होता है उसकी कल्पना करना भी कठिन है, क्योंकि –

संशान्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवतिष्ठिति:।
जागृतनिद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थिति परा।।
तत: कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्ति: गुणानाम्।
पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसव: कैवल्यं।।
स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्ते: इति।।

अर्थात् चित्त में गुणप्रेरित संकल्प–विकल्पों का धाराप्रवाह निरन्तर चलता रहता है। जागृत की स्थिति में एक क्षण के लिए भी यह प्रवाह रुकता नहीं है। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण भी इसकी पुष्टि करते हैं –

नहिं कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवश: कर्म सर्व: प्रकृतिजै: गुणै:।।

अर्थात् माया के द्वारा निर्मित चित्त एक क्षण के लिए भी चित्तवृत्तिरहित नहीं रहता, वह सदैव गुणप्रेरित भावनाओं के वशीभूत स्थूल, सूक्ष्म अथवा मानसिक कर्मों में व्यस्त रहता है। कर्म का आकार एवं दिशा गुणों के क्रमपरिणामों पर निर्भर करती है जैसे कि सतोगुण के प्रभावी होने पर चित्त में श्रेयमार्ग यानि परमात्मज्ञान की दिशा में आगे बढ़ने के संकल्पों का प्रादुर्भाव होता है, रजोगुण के प्रभावी होने पर मिश्रितमार्ग यानि संसार में प्रवृत्ति की दिशा में कर्म के संकल्पों का प्रादुर्भाव होता है और तमोगुण के प्रभावी होने पर प्रेयमार्ग यानि विषयभोगों की प्राप्ति तथा अज्ञानांधकार में पाप की प्रवृत्ति की दिशा में दुष्कर्मों की दिशा में संकल्पों का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार चित्त अनेकानेक संकल्प–विकल्पों के मलावरण से आवृत्त रहता है। किन्तु आत्मज्ञानी का चित्त पाषाण की भांति निश्चल, स्फटिक मणि की भांति निर्मल तथा

महाकाश की भांति शान्त तथा निर्लिप्त रहता है उसमें न तो संकल्प–विकल्पों की वायु का उत्पात होता है और न जागृतावस्था की चित्तवृत्तियाँ और न निद्रावृत्ति का प्रवेश होता। ऐसी चित्त की स्वरूपावस्था का मायाधीन मन तथा बुद्धि कल्पना भी नहीं कर सकती। चित्तवृत्तियाँ गुणात्मक होती हैं और आत्मज्ञानी गुणातीत अवस्था में रहता है, क्योंकि माया के तीनों गुण निष्क्रिय तथा पुरुषार्थशून्य होकर अपनी कारणरूपा प्रकृति में लय हो जाते हैं और आत्मज्ञानी अपने अद्वैतस्वरूप में चिदानन्दमग्न रहता है। इस कल्पनातीत अवस्था को प्राप्त करना देहधारियों के लिए अत्यन्त दुरूह तथा कठिन साधना है। भगवान श्रीकृष्ण स्वयं स्वीकार करते हैं कि –

> क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
> अव्यक्ता हि गतिः दुःखं देहवद्भिः अवाप्यते।।
> न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
> तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेन आत्मनि विन्दति।।

अर्थात् अव्यक्त परमात्मस्वरूप में चित्त को केन्द्रित करना अस्वाभाविक तथा अत्यन्त कष्टकारी है। इसके दो प्रमुख कारण हैं। प्रथम तो यह कि चित्त किसी वृत्ति पर केन्द्रित होता है और अव्यक्त में कोई वृत्ति नहीं बनती। जब चिन्तन का विषय ही अनिर्वचनीय है तब चिन्तन किस आधार पर किया जाय। जीवात्मा बुद्धिबोधात्मिका होने से मिथ्या अहंकार के आश्रित चिन्तन करती है और अहंकार भ्रान्तिज्ञान का द्योतक है तब ऐसे चिन्तन से सत्यज्ञान कैसे सम्भव होगा। दूसरा मुख्य कारण है कि ज्ञानमार्ग में द्वैतसृष्टि को मिथ्या माना है अतः परमात्मा का साकार तथा सगुण स्वरूप भी मिथ्या हुआ। मिथ्या स्वरूप में समर्पण भक्ति हो नहीं सकती अतएव शरीरधारी होने के नाते अहंकार से मुक्ति तथा शारीरिक कष्टों से निर्लिप्तता योगसिद्धि के बिना सम्भव नहीं हो सकती और योगसिद्धि के लिए सिद्धपुरुष अथवा सगुणस्वरूप में परमात्मा की भक्ति तथा उससे भावनात्मक सम्बन्ध होना आवश्यक है तभी योगशिक्षा प्राप्त होगी, अन्यथा नहीं, क्योंकि –

> सः एवायं मया ते अद्य योगः प्रोक्तः सनातनः।
> भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं हि एतदुत्तमम्।।
> ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
> मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।
> समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
> ये भजन्ति तु मां भक्त्या ते मयि तेषु चाप्यहम्।।
> ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा।
> ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितम्।।

अर्थात् यह जो अमर योगशिक्षा है वह मैं परमात्मा (सगुणरूप) तुम्हें (अर्जुन) को दे रहा हूँ, इसके पीछे एक महत्त्वपूर्ण रहस्य छिपा है और वह है कि तुम मेरे भक्त भी हो और तुमने मुझसे एक दृढ़ रिश्ता सखा के रूप में बना लिया है। भक्ति तथा भावनात्मक सम्बन्ध चित्त को अहंकारमुक्त करने के लिए परमावश्यक है, अन्यथा सिद्ध की कृपा के बिना बुद्धि से अहंकार को निकालना असम्भव सा है, क्योंकि बुद्धि में गुप्त पुरुष की बुद्धि के साथ तदाकारता रहने से जीवभाव तथा मायिक पराधीनता नष्ट नहीं होती। यद्यपि मायाधीश सगुण परमात्मा मायिक रहस्यों के ज्ञाता तथा नियन्ता हैं, सर्वसाक्षी तथा समस्त मायाधीन प्राणियों के अहैतुकी हितैषी हैं और उनका न किसी से वैरभाव और न किसी में आसक्तियुक्त प्रेम है तथापि जिनका चित्त अनन्या भक्ति से उनका चिन्तन करता है उनका चित्त परमात्मा के सर्वव्यापक चित्त से जुड़ा रहता है। निर्गुण स्वरूप के उपासकों के साथ ऐसा नहीं होता। इसलिए ज्ञानमार्ग के साधकों को हजारों जन्मों की कठिन साधना के बाद चिरकाल में अपने अन्तःकरण को मायिक मलावरण से मुक्त कर परमात्मा के समान चित्त की विशुद्धावस्था को प्राप्त करना होता है, तभी ज्ञानचक्षु की प्राप्ति होती है, क्योंकि उनके लिए एक ही नियम है कि –

यथोदकं शुद्धे शुद्धं आसिक्तं तादृक् एव भवति।
एवं मुनेः विजानतः आत्मा भवति गोतम।।
वीतरागभयक्रोधैः मुनिभिः वेदपारगैः।
निर्विकल्पो हि अयं दृष्टः प्रपंचोपशमः अद्वयः।।

अर्थात् जिस प्रकार शुद्ध जल – शुद्ध जल में मिलकर समान स्थिति में आ जाते हैं उसी प्रकार ज्ञानमार्ग के ब्रह्मज्ञानी मुनि की आत्मा परमात्मा में मिलकर एक हो जाती है। इसके लिए वेदशास्त्रों के ज्ञान तथा विज्ञान से विशुद्ध हुई आत्मा जब माया के रागद्वेष, भय तथा क्रोधादि सभी अनन्त संकल्पभावों के मलावरण से मुक्त होकर परमात्मा के समान सच्चिदानन्दस्वरूप में स्थित रहती है तब निर्विकल्प चित्त में संसार नष्ट हो जाता है और केवल अद्वैत आत्मतत्व ही प्रकाशित रहता है। इसी को योगसिद्धि कहा जाता है जोकि सगुणोपासकों को सिद्धकृपा से शीघ्र प्राप्त हो जाती है। अतः किसी भी मार्ग के उपासक को अन्य दो मार्गों में निहित साधना का भी आश्रय लेना चाहिए। कारण यह है कि आध्यात्म–सिद्धि के लिए तीन मुख्य बाधायें हैं। (1) जीवभाव का कारण अविद्याजनित अहंकार, (2) चित्त में अविद्याजनित संस्कारों का मलावरण, (3) परमात्मा की त्रिगुणात्मिका देवात्मशक्ति से प्रकट हुई अविद्या माया।

इनमें अविद्यारूपी माया की बाधा केवल परमात्मकृपा अथवा सिद्धकृपा से ही नष्ट होती है और कृपा का अधिकारी वही है जिसमें भक्तिमार्ग की अनन्या भक्ति है। संस्कारों के मलावरण की बाधा साधनमार्ग की योगसिद्धि द्वारा अन्तःकरण की विशुद्धि से नष्ट होती है तथा अहंकाररूपा बाधा ज्ञानमार्ग के तत्वज्ञान से नष्ट होती है। इन तीनों बाधाओं के नष्ट होने पर

अध्यात्म सिद्धि का लक्ष्य प्राप्त होता है। वरीयता के आधार पर सर्वप्रथम कर्मयोग की साधना से चित्तशुद्धिरूपी बाधा का नाश करना चाहिए, क्योंकि इसके बिना न भक्ति का उदय होगा और न ज्ञान का और न योगसिद्धि सम्भव है। इसके उपरान्त अनन्या भक्ति के द्वारा कृपापात्र बनना आवश्यक है, तदनन्तर निरोधसमाधि के विज्ञान से ज्ञानमार्ग के द्वारा ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा का लक्ष्य प्राप्त करना चाहिए। इन तीनों बाधाओं के नष्ट होने पर परमात्मा का सच्चिदानन्दस्वरूप स्वयं प्रकट हो जाता है और मायाधीश की कृपा से अविद्यामाया भी स्वयं निष्क्रिय तथा लुप्त हो जाती है। इसी स्थिति को अध्यात्म–सिद्धि कहा जाता है। भगवान श्रीकृष्ण ने भी गीता में इसी वरीयता का उपदेश दिया है कि –

मय्येव मन: आधस्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत: ऊर्ध्वं न संशय:।।
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय।।
अभ्यासे अपि असमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि।।
अथ एतदपि अशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगं मदाश्रित:।
सर्वकर्मफलत्यागं तत: कुरु यतात्मवान्।।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात् ज्ञानात् ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्याग: त्यागात् शान्तिमनन्तरम्।।

अर्थात् आध्यात्मिक प्रगति के लिए अपनी योग्यता के अनुसार आगे बढ़ना चाहिए। अध्यात्म–सिद्धि को लक्ष्य माना जाय तो उस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए साधन एक सीढ़ी के समान है जिसका प्रथम पुरुषार्थ का आधार सात्विक मनुष्यजीवन है, पुरुषार्थ का द्वितीय आधार कर्मयोग है, पुरुषार्थ का तृतीय आधार भक्तियोग है, पुरुषार्थ का चतुर्थ आधार अष्टांगयोग है और पुरुषार्थ का पंचम आधार विवेकख्याति है और षष्ठम विश्रामाधार सिद्धकृपा है। सिद्धकृपा में पुरुषार्थ नहीं अपितु आत्मनिवेदन एकमात्र हेतु है। भगवान श्रीकृष्ण ने पंचम आधाररूप विवेकख्याति के लिए प्रकृतिप्रदत्त मन को प्रकृति के उद्गम स्थान परमात्मा में लय करके बुद्धि को परमात्मज्योति में निरोध समाधि के द्वारा प्रवेश कराने का आदेश दिया है, क्योंकि आत्मप्रकाश से प्रकाशित निर्मल बुद्धि में विवेकज्ञान स्वत: प्रकट हो जायेगा। यदि ऐसा करने में अपने को असमर्थ पाते हो तब इस योग्यता को प्राप्त करने के लिए अष्टांगयोग की साधना करने का आदेश दिया। यदि ऐसा करने में भी असमर्थ पाते हो तो सर्वधर्म त्यागकर अनन्याभक्ति यानि लोक तथा धर्म की चिन्ता छोड़कर केवल परमात्मप्रेम में आत्मसमर्पण करने

का आदेश दिया। यदि ऐसा करने में भी अपने को असमर्थ पाते हो तथा अन्तःकरण की शुद्धि और उपरोक्त पुरुषार्थ की समर्थता प्राप्त करने के लिए कर्मयोग का आश्रय लेने का आदेश दिया। भगवान के आदेश के अनुसार योग्यता के अनुकूल क्रमागत साधना से परमात्मप्राप्ति सम्भव हो सकती है। वेदवाणी भी इसकी पुष्टि करती है कि –

सत्येन लभ्यः एषः आत्मा।
सम्यक्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रः।
ततस्तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः।।

अर्थात् यह आत्मतत्व उपरोक्त साधना से सत्य की खोज करके जाना जा सकता है, उसके लिए विवेकख्याति तथा ब्रह्मचर्यव्रत की आवश्यकता है। यह आत्मतत्व शरीर की बुद्धिरूपी गुफा में विशुद्ध ज्योतिस्वरूप में उसी प्रकार गुप्त है जैसे कि दूध में घी अथवा शुष्क काष्ठ में अग्नि गुप्त रहती है। इस परमात्मस्वरूप को उपरोक्त साधना करते हुए ही देखा जा सकता है यानि ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा अनुभव किया जा सकता है। इस साधना का प्रथम सोपान ''कर्मयोग'' अथवा महर्षि पतंजलि का 'क्रियायोग' है।

साधनामार्ग (कर्मयोग)

परमात्मा ने स्वयं अपनी माया का विधान कर्माश्रित बताया है कि –

लोके अस्मिन् द्विधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मया अनघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।
न कर्मणामनारम्भात् नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्यासादेव सिद्धिं समधिगच्छति।।
न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।
कार्यते अवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य यः आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।
यस्तु इन्द्रियाणि मनसा नियम्य आरभते अर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो हि अकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।।
यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर।।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।

अर्थात् जब सृष्टिरचयिता ब्रह्मा ने जीवसृष्टि की तो उसी के साथ यज्ञों का कर्मविधान भी बना दिया जिसके द्वारा जीवात्मायें अपनी मनोगत कामनाओं की पूर्ति कर सकते है जैसे कि कामधेनु गाय के द्वारा सर्वप्रकार की कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। माया की इस दिव्य प्रक्रिया में देवसृष्टि तथा मानवसृष्टि को संयुक्त कर विधाता ने समस्त लोकों की सृष्टि का विस्तार कर दिया। इस मायाजाल से मुक्ति का साधन भी इसी प्रक्रिया को कर्मयोग से संयुक्त करके दिया कि यदि कर्मफलरूपी यज्ञों का एकमात्र लक्ष्य चित्तशुद्धि तथा मायाधीश परमात्मा की प्रसन्नता यानि अनन्या भक्ति बना दिया जाय तो जन्म–मरण के कर्मबन्धन से मुक्ति मिल जाती है। अतः यदि कर्मफल में कामनाओं की पूर्ति का लक्ष्य नही है तो उसे कर्मयोग की साधना कहा जाता है। माया के रूप में यह परमात्मा का संकल्प है कि जीवात्मा की शरीरयात्रा प्रारब्धकर्मों के फलों के अनुकूल ही चलेगी, अतः प्रत्येक जीव को स्वभाव से प्रेरित कर्मों को करते हुए कर्मयोग का पालन करना चाहिए तभी उसकी मायापाश से मुक्ति सम्भव है, अन्यथा नहीं।

कर्मयोग के पालन में जो सबसे बड़ी बाधा है, वह है मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों का व्यापार, क्योंकि शास्त्र का कथन है कि –

इन्द्रियस्य इन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्वशं नागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपंथिनौ।।
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनः अनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः अस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैः विमोहयति एष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।।

(शेष अगले अंक में)

स्वास्थ्य

योग-आसन

मत्स्येन्द्रासन

वामोरुमूलार्पित दक्षपादं, जानोर्वहिर्वेष्ठितवामपादम्।
प्रगृह्य परिवर्तितांगं श्रीमत्स्येन्द्रनाथोदितमासनं स्यात्।।

विधि – पद्मासन की विधि से अपनी बाईं जंघा हर दाहिने पैर को जमाये तदनन्तर उस बायें पैर को उठाकर अपने दाहिने पैर के घुटने के ऊपर से लेकर दाहिनी ओर जमा कर रख लें, उसके बाद अपने दाहिने हाथ को घुमाकर उस ही दाहिनी ओर जमे हुए बायें पैर के घुटने को बायीं ओर लाकर दृढ़ता से उसी पैर के पंजे को पकड़ कर वहीं दृढ़ता से हाथ को जमाये रखें और सीधा बैठें इसी का नाम मत्स्येन्द्रासन है। इसी विधि से पैरों को बदल कर बायें पैर को दाहिनी जंघा पर रख कर व दाहिने पैर को बायें पैर के घुटने के पास से खड़ा पंजा लगाकर बायीं ओर जमा दें। उसके बाद अपने बायें हाथ को उस दाहिने जमे हुए पैर दाहिनी ओर से घुमा कर उस दाहिने ही पैर के पंजे को दृढ़ता से पकड़ कर हाथ वहीं जमाये रखें, इस प्रकार यह आसन दोनों ओर से बदल–बदल कर किया जा सकता है इस आसन को करते हुए अपनी दृष्टि भ्रूमध्य रखनी चाहिए।

समय – पहली बार ही अभ्यास करने वाले को भद्रासन की तरह उसे भी 10 या 20 सैकन्डों से ही आरम्भ करना चाहिए, बाद में पाँच–पाँच सैकन्ड बढ़ा कर अभ्यास को ऊँचा बढ़ाया जा सकता है।

लाभ – इस आसन की विधि इस प्रकार की है कि जिसमें मेरुदण्ड स्वाभाविक ही सीधा रहता है, मेरुदण्ड के सीधे रहने से सुषुम्ना की गति स्वतः ही हो जाती है। अतः यह आसन मन की एकाग्रता का दाता है। कुण्डलिनी प्रबोध करने वाला है। पीठ में होने वाले व उदर में होने वाले सभी बात विकारों का नाशक है, जठराग्नि का वर्धक है। आँतों को पूरा–पूरा बल देता है। शौच शुद्धि के लिए भी उत्तम है।

प्रभु-भक्ति का वैदिक स्वरूप

– श्री राम शर्मा आचार्य

आत्मिक–शान्ति और पूर्णानन्द को प्राप्त करने के लिये ही यह जीवन मानवदेह में अवतरित हुआ है। यही इसके जीवन का चरम लक्ष्य है। इसीलिये ही यह जीव सुख और शान्ति का खोजी बनकर उसकी प्राप्ति के लिये दर–दर भटकता और ठोकरें खाता फिरता है। इसके जीवन का सारा क्रिया–कलाप, सारी उधेड़बुन केवल जीवन को शान्त और सुखमय बनाने के लिये ही है। किन्तु, इस जीवन–संग्राम में इतनी खटपट और उधेड़बुन करने पर भी जीव उस सच्चे सुख और शांति से वंचित ही रहता है जिसकी कि उसे अभिलाषा है। इतना ही नहीं, प्रत्युत कभी–कभी तो वह जीवन में सुख और शान्ति के स्थान पर अत्यन्त क्लेश, दुःख और अशान्ति का ही अनुभव करता है। संसार के नाना प्रकार के सुखप्रद विषयों और वैभवों का भोग करता हुआ भी वह उसमें उस शान्ति और आनन्द का अनुभव नहीं करता, जिसकी उसे चिर अभिलाषा है। ऐसा क्यों ? इसका एकमात्र उत्तर यही है कि जिन भौतिक पदार्थों में परमानन्द और परम शान्ति का अभिलाषी बन भटक रहा है, वे पदार्थ स्वयं सुख और शान्ति से रहित हैं। कोसों दूर है। भला जिस के पास जो वस्तु है ही नहीं वे दूसरे को क्या दे सकेगा? जो स्वयं भूख व प्यास से तड़प रहा है, वह हमें कैसे स्वादिष्ट भोजन तथा मधुर जल का पान करा सकेगा और हमारी भूख और प्यास शान्त कर सकेगा ? इसीलिये आत्मा जब इन भौतिक पदार्थों में भटक कर निराश हो जाती है, उसे अपनी अभीष्ट की प्राप्ति नहीं होती। इतना ही नही प्रत्युत वह विश्व के विविध विषय–भोग और अमोद–प्रमोद, सुख और शान्ति के स्थान पर उल्टा उसके दुःख और अशान्ति का कारण बन जाते हैं। तो वह निराश हो जाता है। उसकी आत्मा संतप्त और व्याकुल हो उठती है, उसे चारों ओर विषय वासनाओं की जलती हुई प्रचण्ड ज्वालाएँ व्याकुल और अप्रसन्न बना देती है। उस समय उसे सुख और शान्ति के परमधाम प्रभु का ध्यान आता है और वह पश्चाताप करता हुआ वेद के शब्दों में प्रभु से पुकार उठता है।

सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीमि पर्शवः ।

ऋग्वेद 1/105//8।।

हे दीनबन्धु ! हे अधर्मोद्धारक पतित पावन प्रभो, अब तो मुझे ये तृष्णाएँ ये विश्व की क्षणिक कामनाएँ और विषयों की विष भरी वासनाएँ संपत्तियों के समान सन्तप्त और व्याकुल कर रही हैं। भगवन् ! अब मैं सब ओर से निराश होकर और तेरा भक्त बनकर तेरे द्वार पर आया हूँ। हे दीनबन्धो ! क्या इस दीन की पुकार न सुनोगे ? क्या अपने इस भक्त को विश्व की क्षणिक वासनाओं और तृष्णाओं से हटाकर अपनी प्रेममयी पावन गोद में नहीं लोगे ? उस समय ऋषि दयानन्द के शब्दों में प्रभु उस अति व्याकुल भक्त की करुण पुकार को सुनते हैं और उसे

अपनी सर्व–शक्तिमयी गोद में लेते हैं।

वास्तव में योगीजनों के शब्दों में हर अविद्या आदि पञ्चक्लेशों से संतप्त और परिणाम, ताप, संस्कार आदि दुःखों से दुःखी जीव के लिये एकमात्र वह सच्चिदानन्द प्रभु ही सच्ची शान्ति और परम सुख का सहारा है। इसीलिये वेद कहता है–

न त्वदृते अमृदा मदयन्ते।

हे आनन्दकन्द, सच्चिदानन्द प्रभो ! तेरे शरणागति के बिना तेरा यह अमृत पुत्र पूर्णानन्द को प्राप्त नहीं कर सकता।

वास्तव में जो मनुष्य अपने जीवन को कदाचारों और कुत्सित संस्कारों से हटाकर उस प्रभु की शरण में आ जाता है, दूसरे शब्दों में वह अपनी अधमावस्था पर पश्चात्ताप करता हुआ उसका परित्याग कर सत्पुरुष अर्थात सन्मार्गगामी बन जाता है, भगवान अवश्य उसके ऊपर सब प्रकार के सुखों की वर्षा करते हैं। इसीलिये वेद कहता है–

"त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि।"

ऋग्वेद 2/1/3॥

हे परमज्योतिर्मय प्रभो ! तुम ही तो सत्पुरुषों के लिये, अपने अनन्य भक्तों के लिये इन्द्र और वृषभ बनकर उसके ऊपर समग्र ऐश्वर्यों और सकल सुखों की वर्षा करने वाले हो।

"मा ते भयं जरितारम्"।

अ.1/186/4॥

तेरे प्रेमी भक्त को भय, चिन्ता और दुःख कहाँ? वेद के उपर्युक्त वचनों से सिद्ध होता है कि एकमात्र प्रभु भक्ति ही इस भव–बन्धन में पड़े जीव को सुख, शान्ति और परमानन्द प्रदान करने वाली है।

बिना ईश्वर आराधना के आत्मा को परमशान्ति और परमानन्द की उपलब्धि होना बहुत कठिन ही नहीं, अपितु नितान्त असम्भव है।

अब उस प्रभु भक्ति का क्या स्वरूप है, थोड़ा इस पर विचार करना चाहिए। भक्ति में तीन बातों का ज्ञान लेना परमावश्यक है, हम किस की भक्ति करें, कैसे बनकर करें और क्या करें ? बिना इन तीनों बातों के जाने जो जन भक्ति मार्ग पर चलने लगते हैं, वे सदा अपने चरम लक्ष्य से वंचित ही रहते हैं, उन्हें निज अभीष्ट की प्राप्ति नहीं होती। अतः भक्ति मार्ग के पथिक को उपर्युक्त तीनों बातों का ज्ञान लेना परमावश्यक है।

भक्ति का पहला कर्त्तव्य है कि वह यह विचार करे कि जिसको वह अपना आराध्यदेव बनाने चलता है, जिस सुन्दर स्वरूप को वह अपने हृदय – मन्दिर में बैठाना चाहता है उसका क्या स्वरूप है ? उसकी उपासना करने पर मुझे अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति होगी या नहीं ? भक्त कैसे आराध्यदेव की आराधना करें ? इस सम्बन्ध में अथर्ववेद में एक सुन्दर मंत्र आता है।

तमुष्टहि यो अन्तः सिन्धौः सूनुः ।

सत्यस्य युवानम दोघवार्चं सुशेवम् ।।

अर्थर्ववेद 6/1/2।।

वेद कहता है – हे भक्त ! यदि तू सच्ची शान्ति और परम आनन्द को प्राप्त करना चाहता है तो (तम्+उ+स्तुहि) उस ही प्रभु की उपासना कर। (यः+अन्त:सिन्धुः) जो इस संसार में रम रहा है। (सत्यस्य+सूनुः) जो सदा सत्य की ओर ही प्रेरणा करता है। (युवानम्) जो सर्वदा युवा अर्थात् एक रस रहता है (सुवेशम्) जो सारे बलों, सुखों और आनन्द का भण्डार है। (अद्रोघवाचम् जिसकी वाणी में किसी के प्रति असत्य, द्रोह और विश्वासघात नहीं है।

भक्त सोचता है मैं अपने प्रभु को कैसे मिलूँ। मेरा वह प्रियतम मुझे कहाँ मिलेगा और नाना प्रकार की तृष्णाओं और आसुरी वासनाओं रूपी तरगों से तरंगित काम, क्रोध, राग, मोह ईर्ष्या आदि जल–जन्तुओं से पूर्ण इस भवसागर में मेरा कौन सहारा है ? इन दोनों आशंकाओं का समाधान वेद एक ही शब्द में करता है (तमु+स्तुहि+यो+अन्त:सिन्धु) भक्त तू उस प्रेम की स्तुति कर जो सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी है। उस आराध्यदेव की आराधना करने के लिये तुझे अन्यत्र कहीं भटकना नहीं पड़ेगा, क्योंकि वह तेरा अन्तर्यामी तो तेरे रोम–रोम में रम रहा है। फिर तुझे इधर–उधर जाने और भटकने की क्या आवश्यकता और इसमें भी कुछ सन्देह नहीं कि यह संसार एक अथाह सागर है और यह जीव अपनी दुर्वासनाओं और निर्बलताओं के वशीभूत होकर अहर्निश इसमें गोते खा रहा है। परन्तु यह भी ध्रुव सत्य है कि जो भक्त उस करुणामय प्रभु का आश्रय ले लेता है, उसकी प्रेममयी गोद में बैठ जाता है और उसकी शरण में आ जाता है, वह अवश्य भव–सिन्धु से तैर कर पार हो जाता है।

प्रभु प्राप्ति का लक्ष्य केवल जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु से छुटकारा पाना ही नहीं, प्रत्युत उससे छूटकर उस परमानन्द और परम शान्ति को प्राप्त करना है, जिसकी खोज में जीव जन्म–जन्मान्तरों से भटक रहा है। अतः भक्त सोच सकता है कि प्रभु की उपासना से मैं जन्म–मरण के बन्धन से तो छूट ही जाऊँगा, किन्तु मेरा अन्तिम लक्ष्य तो परमानन्द की प्राप्ति है। क्या प्रभु–भक्ति द्वारा इसकी भी मुझे प्राप्ति होगी या नहीं ? वेद–भक्त के इस संदेह को भी दूर करता है, हे प्रिय भक्त ! तू इस सन्देह को भी अपने हृदय पटल से दूर कर दे, क्योंकि तेरे आराध्यदेव भगवान् तो ' सुशेवः ' है। सारे सुखों के भंडार है। परम शान्ति और पूर्णानन्द के धाम है। फिर यह कैसे सम्भव हो सकता है कि उस शान्ति और आनन्द के परम निकेतन को प्राप्त कर लेने पर तू आनन्द से वंचित रह जाय। सच्चा ईश्वरभक्त उस परम कल्याणमय प्रभु की उपासना द्वारा उसमें तल्लीन हो जाता है और इतना तल्लीन हो जाता है कि अपने को भूलकर वेद के शब्दों में स्वयं कह उठता है :–

यदग्ने स्यामहत्वं वा घा स्या अहम् ।

स्युष्टे सत्या इहाशिषः ।।

ऋ.8/44/23 ।।

हे प्राणवन ! अब तो मैं आपकी भवभय हारिणी पावन भक्ति द्वारा तुझमें इतना लवलीन हो गया, इतना तन्मय हो गया कि– मैं तू बन गया और तू मैं हो गया। अब मुझे पता लगा कि अपने अनन्य भक्तों के प्रति कृपा कटाक्ष और आशीर्वाद कितने अटल ध्रुव और सत्य हैं।

वेद जहाँ भक्त के आराध्य देव भगवान् के सत्य, शिव और सुन्दर स्वरूप को यथार्थ रूप में हमारे सन्मुख रखता है, वहाँ भक्त के स्वरूप और कर्त्तव्यों का भी बड़ा सुन्दर वर्णन करता है। वेद का कथन है कि जो भक्त प्रभु को प्राप्त करना चाहता है, सर्वप्रथम उसके हृदय में प्रभु–भक्ति की तीव्र लगन होनी चाहिए, उत्कृष्ट अभिलाषा होनी चाहिए। प्रभु प्रेम के प्रति उसे अपना सब कुछ अर्पण कर देना चाहिए।

प्रभु प्राप्ति के प्रति इतनी तीव्र लगन, इतनी उत्कृष्ट अभिलाषा तभी उत्पन्न होती है, जब भक्त संसार के क्षणिक विषय भोगों की ओर से मुँह मोड़कर शुभकर्मों द्वारा अपने हृदय को शुद्ध पवित्र कर और निर्मल बना लेता है। दूसरे शब्दों में अपने सम्पूर्ण कर्मों को उस यज्ञ रूपी प्रभु की हवि बनाकर अपने जीवन को हविष्यमान् अर्थात् यज्ञमय बना लेता है। इसीलिए वेद में प्रभु प्राप्ति की तीव्र आकांक्षा वाले भक्त–भगवान् से प्रार्थना करते हैं।

वयमिन्द्र त्वायवो हविष्मन्तो जरामहे।

उत त्वमस्मयुर्वसो ।।

ऋ.3/41/7।।

हे इन्द्र ! हम तेरे उपासक हविष्यमान् बनकर, अपने जीवन को यज्ञमय बनाकर तेरी साधना करें, जिससे कि तू हमारा और हम तेरे बन जाएँ। अतः जो भक्त प्रभु को अपना बनाना चाहता है, उसे वेद के कथनानुसार अपने जीवन को यज्ञमय बनाकर प्रभु का बन जाना होगा। वेद ने तो प्रभु का नाम ही ' यज्ञसाध ' रखा है, अर्थात् साधना यज्ञ द्वारा ही हो सकती है। वेद कहता है :–

तमीलठत प्रथमं यज्ञसाधम् ।।

ऋ.1/96/3।।

हे प्रभु प्राप्ति के अभिलाषीजनो ! याद रखो वह मंगल मय प्रभु ' यज्ञसाध ' है। अतः यदि तुम उसे प्राप्त करना चाहते हो तो यज्ञ साधना द्वारा ही उसकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना करो।

आश्रम समाचार

श्री गुरु पूर्णिमा का उत्सव आषाढ़ पूर्णिमा 31 जुलाई को श्री सिद्धगुफा सवांई आश्रम में बड़े ही धूम–धाम से मनाया गया। देश के विभिन्न प्रान्तों से गुरुभक्तों ने आकर धाम का दर्शन किया। पूजन, दर्शन लाभ लिया और पुण्य अर्जित किया। इसके दूसरे दिन 01 अगस्त से ही रुद्र महाभिषेक यज्ञ का प्रारम्भ हो गया है जो 11 अगस्त तक चलेगा। कर्णवास के आचार्य डॉ. वैकुण्ठ शर्मा आचार्यत्व में 21 वेद पाठियों द्वारा अभिषेक कराया जा रहा है। आश्रम का वातावरण सावन माह में स्वाभाविक ही मनोरम होता है। ऐसे वातावरण में यज्ञशाला में निरन्तर वेद ध्वनि गूँजती रहती है। ढाई–तीन सौ साधक आश्रम आकर जाप एवं ध्यान योग का अभ्यास कर रहे हैं। यह अनुष्ठान सभी के लिये परम कल्याण का हेतु है। साधक गण समकाय शिरोग्रीव होकर ध्यान में बैठते हैं। अपने गुरुमन्त्र का जाप व ध्यान में मग्न देखे जाते हैं। 11 अगस्त को यज्ञ की पूर्णाहुति के साथ ही यह अनुष्ठान समाप्त हो जायेगा। तत्पश्चात् सभी भक्त अपने–अपने गन्तव्य को प्रस्थान करेंगे। इस प्रकार से बहुत ही हर्ष व उल्लास के साथ यह अनुष्ठान का कार्यक्रम चल रहा है।

● ● ●

परम हंस श्री रामकृष्ण देव जी के शब्दों में

''सभी उन्हें पुकार रहे हैं। ईर्ष्या द्वेष की जरूरत नहीं। कोई कहता है साकार और कोई कहता है निराकार। मैं कहता हूँ, जिसका साकार में विश्वास है वह साकार का ही चिन्तन करे और जिसका निराकार में विश्वास है, वह निराकार का ही ध्यान करे। मेरा धर्म ठीक है, बाकी सबका गलत है – ऐसी धर्मान्धता अच्छी नहीं।'' उन्होंने सभी धर्मों के अनुयायियों का मार्ग दर्शन करते हुए कहा – 'हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, शाक्त, शैव, वैष्णव, ऋषियों के समय के ब्रह्मज्ञानी और आजकल के ब्रह्मज्ञानी तुम लोग – तुम सभी एक ही वस्तु चाह रहे हो। पर हाँ, जिसका पेट में जैसा सहन होता है, माँ ने उसी प्रकार की व्यवस्था की है।''

गुरुदेव हैं कौन ?

– आचार्य डॉ. अमित कुमार मिश्रा 'चिन्तामणि' शुक्लागंज (उन्नाव)

कोई गुरुदेव कहता है, कोई सद्‌गुरु समझता है,
मगर परब्रह्म को केवल स्वयं परब्रह्म समझता है।

प्रभु श्री रामलाल जी स्वयं परब्रह्म परमेश्वर,
हृदयाराध्य हैं मेरे जगत के जो हैं जगदीश्वर,
कृपा हो जाए गर इनकी प्रभुमय जग ये दिखता है,
तेरे परकाश की एक, किरण से रवि दमकता है,
मगर संसार गुरुवर को केवल देही समझता है...

मिले गुरुवर स्वरूप में प्रभु श्री योग योगेश्वर,
करुणानिधि करुणालय महाप्रभु जी परमेश्वर,
उन्हीं के निज स्वरूप में श्री चन्द्रमोहन भगवन,
विराजे योगेश्वर दोनों निज भक्तन के निज मन,
मगर भगवान को केवल निर्मल मन समझता है...

है बारम्बार सिद्धों से श्री सिद्ध गुफा वन्दित,
सुर नर मुनि सभी करते शत–शत् बार अभिनन्दित,
करे मिल जुल वन्दना, श्री युगल चरणों की,
योगेश्वर द्वय की और श्री प्रभु जी बंदों की,
प्रभु जी आप सम आप अमित मन रहता है...

●●●

कविता

– राजीव कुमार, अम्बिकानगर – अम्ब, ऊना, एच.पी.

जन्म दिवस गुरुदेव आपका शुभ संदेश लाया।
योग प्रचार प्रसार आगे बढ़ा गगन गुंजाया।।

श्री सिद्धगुफा में संगतों ने डेरा जमाया।
गुरुदेव की कृपा बरसी, सबका मन मुस्काया।।

छम-छम मोर भी नाचते, ऐसा आनन्द मनाया।
गुरुदेव की शक्तिपात दीक्षा ने अलख जगाया।।

श्री सिद्धयोग ने गुरुदेव का प्रचार आगे बड़ा बढ़ाया।
गुरुभाईयों की अटूट श्रद्धा ऐसा रंग चढ़ाया।।

इम्तिहान की घड़ी ने दरबार सजाया।
प्रभु स्वयं परखते! किसको कृपा पात्र बनवाया।।

एक माला के सब मनके गुरुवर की अलौकिक माया।
जिस घट शक्ति संचारित होगी वहीं बरसेगी लीलाधर की योग माया।।

फिर क्यों तेरा मन विषयों में भरमाया।
योगियों का आशीर्वाद! छूटेगा जरा मरण का साया!!

● ● ●

अपने लिए नहीं, भगवान के लिए !

यहाँ सृजन करने के लिए यदि कुछ है तो वह विज्ञान का ही सृजन है। अर्थात् इस पृथिवी पर, केवल मन-बुद्धि और प्राण में ही नहीं, प्रत्युत शरीर में और इस जड़ प्रकृति में भी भगवत्सत्ता का अवतरण कराना है। हमारा उद्देश्य अहंभाव के फैलाव को रोकने वाले प्रतिबन्धों को हटाना अथवा मानव मन की कल्पनाओं या अहंकारगत प्राणवासनाओं की स्वार्थपूर्ति के लिए खुला मैदान छोड़ देना और बेरोक आश्रय प्रदान करना नहीं है। यहाँ कोई भी इसलिए नहीं है कि 'जो मन भावे करें' या किसी ऐसे संसार को रचें जिसमें हम लोग अपनी मनमानी कर सकें; यहाँ हमें तो वही करना है जो भगवान् चाहते हैं और ऐसा ही संसार रचना है जिसमें भगवदिच्छा अन्तर्निहित सत्य को प्रकट करे-वह भगवदिच्छा किसी मानव-अज्ञान से विकृत न हो। विज्ञान के इस योग में साधक को जो काम करना होता है वह कोई उसका अपना काम नहीं है जिस पर वह अपनी शर्तें भी लाद सके, प्रत्युत वह कर्म भगवान् का है और उसे वह कर्म भगवन्निर्दिष्ट नियमों के अनुसार ही करना होगा। हमारा योग हमारे लिए नहीं है, बल्कि भगवान के लिए है। हम जो कुछ व्यक्त करना चाहते हैं वह हमारा वैयक्तिक व्यक्तीकरण नहीं है - सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, सर्वबन्धविनिर्मुक्त वैयक्तिक अहंकार का भी व्यक्तिकरण नहीं है; वह स्वयं भगवान का व्यक्त होना है। हमारी मुक्ति, हमारी पूर्णकामता और हमारी परिपूर्णता तो भगवान के व्यक्त होने का ही एक परिणाम और अंगमात्र है और सो भी किसी अहंभाव से नहीं, न किसी अहंता-ममता से निकले स्वार्थ के लिए। वह मुक्ति, पूर्णकामता, परिपूर्णता भी हमारे अपने लिये नहीं, भगवान के लिए है।

- महर्षि अरविन्द

प्रेषक कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सैंवारी (फतेहाबाद) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER — BOOK-POST

श्री/सुश्री ____________________

____

____

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥

(कठोपनिषद् 1/2/21)

परब्रह्म परमात्मा अचिन्त्यशक्ति हैं और विरुद्ध धर्मों के आश्रय हैं। एक ही समय में उनमें विरुद्ध धर्मों की लीला होती है। इसी से वे एक साथ सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान बताये गये हैं। वे परमेश्वर अपने नित्य परमधाम में विराजमान रहते हुए ही भक्ताधीनतावश उनकी पुकार सुनते ही दूर से दूर चले जाते हैं। परमधाम में निवास करने वाले पार्षद भक्तों की दृष्टि में वहाँ शयन करते हुए ही वे सब ओर चलते रहते हैं। अथवा वे परमात्मा सदा-सर्वदा सर्वत्र स्थित हैं। वे सर्वत्र सब रूपों में नित्य अपनी महिमा में स्थित हैं।